ंक्षिप्त जायसी

कवि जायसी के पद्मावत काव्य का
संक्षिप्त संस्करण

सम्पादक—
शम्भूदयाल सक्सेना, "साहित्यरत्न"

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
पुस्तकविक्रेता और प्रकाशक, आगरा।

विषय ... पृष्ठ

संक्षिप्त जायसी हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत काव्य का संक्षिप्त संस्करण है। यह बी० ए०, मध्यमा, हिन्दी-प्रभाकर एवं तत्समान परीक्षाओं के लिए तय्यार किया गया है जिनके परीक्षार्थियों को इस महाकवि के काव्य का पर्याप्त परिचय हो जाना चाहिए। संकलन करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि कवि की विभिन्न विशेषताओं के निदर्शक अंश छूटने न पावें, पर साथ ही संकलन बहुत बड़ा भी न हो जाय। काव्य के सर्वोत्तम अंश यथासंभव संकलित कर दिए गए हैं।

जायसी से परीक्षार्थी बहुत घबराया करते हैं। मार्ग-दर्शन के लिए योग्य अध्यापक भी उन्हें सहज ही नहीं मिल पाते। अतः इस संस्करण में आलोचनात्मक प्रस्तावना के साथ-साथ विस्तृत टिप्पणियाँ भी दी गई हैं, जिनसे कवि का भाव समझ लेने में परीक्षार्थियों को किसी प्रकार की कठिनता नहीं रह जायगी। इनको भाषाविज्ञान और प्राचीन हिन्दी के विशेषज्ञ विद्वान प्रोफेसर नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०, विद्यामहोदधि ने लिखा है। संपूर्ण पदमावत का अर्थसहित संस्करण भी आप तय्यार कर रहे हैं जो यथासमय प्रकाशित होगा।

सम्पादक

सन नव सै सत्ताइस अहा।
कथा-अरंभ-वैन कवि कहा।

इस कथन के अनुसार उनका जन्म हिजरी सन् ६०० ईस्वी अर्थात् सन् १४९२ के लगभग ठहरता है। जायसी ने अपने पद्मावत काव्य के आरंभ में सृष्टि और सृष्टिकर्ता को याद करने के वाद फ़ारसी के मसनवी काव्य की परंपरा का अनुकरण करते हुए 'शाहेवक्त' शेरशाह की भी प्रशंसा की है और चूँकि शेरशाह के शासनकाल का आरंभ १५४० ईस्वी से होता है, इसलिए यही समय जायसी का भी समझना चाहिये।

एक प्रचलित जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म एक दरिद्र कुल में हुआ था। जव ये सात वर्ष के वालक थे तभी इनके शीतला का प्रकोप हुआ। उस वीमारी में इन्हें प्राण संकट तक उपस्थित हो गया। इनकी माता ने मकनपुर के शाहमदार की मनौती मानी, तव कहीं जाकर ये स्वस्थ हुए। इस वीमारी से ये वच तो गये परन्तु इनकी एक आँख जाती रही तथा एक कान की श्रवणशक्ति भी नष्ट हो गई। नीचे दिये दोहे की अर्धाली से प्रकट है कि इनकी वाईं आँख और बायाँ ही कान जाते रहे थे—

मुहमद वाईं दिसि तजा, एक सरवन, एक आँखि।

'एक आँख कवि मुहमद गुनीं' इस प्रकार अपनी कुरूपता का उल्लेख करते हुए भी जायसी उस पर निराश और दुखी नहीं प्रतीत होते। उसे वे परमात्मा की देन समझकर स्वीकार करते हैं। तभी तो उन्हें देखकर उनकी कुरूपता का उपहास करनेवाले से वे पूछ वैठते हैं कि—

मोहिं का हँसेसि, कि कोहरहि ?

अर्थात् तू मुझ पर हँसता है या मेरे वनानेवाले कुम्हार पर?

विधिना के मारग है तेते।
सरग नखत तन रोवाँ जेते।

जायसी की इसी सार्वदेशिक भावना ने उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों में श्रद्धेय बना दिया था। फिर वे बड़े सरल स्वभाव तथा त्यागी वृत्ति के थे। कहते हैं कि वे जायस में साधारण किसान के रूप में रहते और परिश्रम करते थे। उनके साधु-स्वभाव और भक्त-हृदय का लोगों पर बड़ा अच्छा प्रभाव था। उनका नियम था कि वे अकेले भोजन न करते थे। एकबार एक कोढ़ी के साथ बैठकर भोजन करके वे बड़े सन्तुष्ट हुए थे। उनकी समदर्शी भावना को इस घटना से बहुत बल मिला था। उनका जीवन यों ही एक तपस्वी साधु का जीवन था, परन्तु समय-समय पर उनके ऐहिक बन्धन धीरे-धीरे कटते गये और प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होते-होते वे और अधिक विरक्त होगये तथा फकीर बनकर जहाँ-तहाँ घूमने लगे। उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाली घटनाओं में उनके बेटों की मृत्यु की घटना भी है। कहते हैं कि इनके बेटे मकान गिर जाने से उसके नीचे दबकर मरे थे।

गृहत्यागी जायसी अपने समय के सिद्ध फकीर माने जाते थे। चारों ओर क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी में उनका बड़ा मान था। अमेठी के राजा रामसिंह उन पर विशेष श्रद्धा रखते थे। कहते हैं जायसी के आशीर्वाद से ही उनके पुत्र पैदा हुआ था। जायसी अक्सर अमेठी के आसपास के वन में जाकर रहा करते थे। कहते हैं इनकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई थी, एक शिकारी की गोली लगने से ये मरे थे। राजा रामसिंह ने अमेठी के गढ़ के समीप ही इनकी कब्र बनवाई।

जायसी के लिखे हुए तीन ग्रंथ मिलते हैं—(१) पदमावत, (२) अखरावट और (३) आखिरी कलाम। इनकी रचना दोहा-चौपाई

नागमती ने देखा कि कहीं यही बात यह राजा रतनसेन के सामने न कहदे। इस डर से उसने अपनी दासी से हीरामन को मार डालने के लिए कहा, परन्तु दासी ने उसे छिपा रक्खा। जब राजा रतनसेन आखेट से लौटकर आया तो उसे हीरामन के द्वारा सारी बात मालूम होगई। पद्मिनी के रूप-लावण्य की प्रशंसा सुनकर वह तनमन की सुधि भूल गया और जोगी का वेश बनाकर घर से निकल गया। उसके साथी सोलह हजार राजकुमारों ने भी अपना-अपना घर छोड़ दिया और वैरागी बन गये। इन सब का पथप्रदर्शक बना हीरामन।

वियोगी जोगियों का यह समुदाय कलिंग से जहाजों में सवार होकर सिंहल की ओर चला। नाना कष्ट झेलकर अन्त में वे सब सिंहल पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने सिंहल के एक प्रसिद्ध शिव-मन्दिर में डेरा डाला। उधर हीरामन ने जाकर पद्मिनी को समाचार दिया। यौवनवती पद्मिनी के हृदय में भी प्रेम की पीड़ा होने लगी। श्रीपंचमी के दिन पद्मिनी शिवपूजन के लिए मन्दिर में गई और वहाँ रतनसेन से उसका दृष्टिविनिमय हुआ। राजा पद्मिनी को देखते ही मूर्छित होकर गिर पड़ा। जब वह चली गई तो उसकी व्याकुलता और बढ़ गई। अन्त में भगवान शंकर द्वारा सिद्धि प्राप्त कर उसने सिंहल के गढ़ पर चढ़ाई करने की ठानी। वहाँ वह पकड़ा गया और उसे सूली दिये जाने की आज्ञा हुई। तब सोलह हजार जोगियों की सेना ने, जिसमें महादेव, हनुमान आदि देवता भी वेश बदल कर शामिल होगये थे, गढ़ को घेर लिया। राजा गंधर्वसेन ने भगवान शंकर को पहचान लिया और उनकी इच्छा जानकर पद्मिनी का विवाह रतनसेन से कर दिया। कुछ दिन बाद पद्मिनी को लेकर रतनसेन चित्तौड़ लौट चला। लौटते समय समुद्र में तूफान आगया जिससे रतनसेन पद्मिनी से एकबार फिर विलग होगया परन्तु समुद्र की कन्या लक्ष्मी के प्रसाद से वे फिर मिल गये और पाँच विशेष पदार्थ भेंटमें पाकर अपने घर चित्तौरगढ़ लौट आये।

नेर पर चढ़ाई कर दी। दोनों राजाओं में युद्ध हुआ और दोनों परस्पर लड़ते हुए मारे गये। नागमती और पद्मावती दोनों रानियाँ अपने स्वामी के शव के साथ सती हो गईं।

इस संपूर्ण कथा को एक सरस आख्यान काव्य के रूप में लिखकर अंत में जायसी ने लिख दिया है कि--

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई शैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु। लेहु बूझि बूझै जो पारहु।

अर्थात् यह लौकिक आख्यान अपने सहज रूप में एक प्रेम-कथा अवश्य है परन्तु इसका दृष्टिकोण यहीं तक नहीं है। इसमें आध्यात्मिक संकेत भी है। जो विचारशील पाठक हैं अथवा जो विचारने की क्षमता रखते हैं, उन्हें इसमें निरूपित उस अध्यात्म-पक्ष पर भी अवश्य विचार करना चाहिए। ऐसे जिज्ञासु पाठकों की प्रवृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिए ही जायसी को यह बताना पड़ा है कि यह सारी प्रेम-कथा जीवात्मा की परमात्मा को पाने के लिए व्याकुल चेष्टा तथा उनके सम्मिलन की कथा है। इसमें चित्तौर, रतनसेन, सिंहल, पद्मिनी, हीरामन, नागमती, राघवचेतन, अलादीन (अलाउद्दीन) और सभी प्रतीक रूप से ग्रहीत हुए हैं। 'आदि' शब्द यहाँ इसलिए जोड़ना प्रतीत होता है कि इनके अतिरिक्त और भी ऐसे व्यक्ति रह जाते हैं पारमार्थिक पक्ष में जिनकी प्रतीकता ग्रहण किये बिना रूपक का ठीक आरोप नहीं होता। लेकिन साथ ही ऐसा करने में कथा और काव्य की संगति का विचार आवश्यक है। काव्यरस की हानि करके आध्यात्म-पक्ष की पुष्टि शायद कवि को भी अभीष्ट न रही होगी; क्योंकि 'पदमावत' वस्तुतः एक काव्य ही है दर्शन या सिद्धान्तग्रंथ नहीं।

प्रस्तावना

वंश, निवास-स्थान एवं ग्रंथ-परिचय

जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। मलिक उनकी वंशानुगत उपाधि थी। मुहम्मद नाम था। अवध प्रान्त के अन्तर्गत जायस नामक स्थान में रहने के कारण वे जायसी कहलाये। उनके संबंध में विशेष ज्ञातव्य बातों का अभाव है। स्वयं उन्होंने जहाँ-तहाँ प्रसंगवशात् अपने संबंध में कुछ लिख दिया है उसके एवं विद्वानों की खोज के आधार पर ही उनका जीवनवृत्त संकलित किया गया है। उसमें सुधार और संस्कार की गुंजायश है। अभी तक उनके माता-पिता और जन्म तिथि तक का ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सका। अपने निवास-स्थान के संबंध में स्वयं उनका कथन है—

जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।

उनके जन्म-समय का निर्देश भी उन्हीं की 'आख़िरी कलाम' नामक पुस्तक में मिलता है। यह पुस्तक बादशाह बाबर के समय में १५२८ ई० के आसपास उसी की प्रशंसा में लिखी गई थी। इस पुस्तक में ये लिखते हैं—

भा अवतार मोर नव सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी।

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पद्मावत' के रचना-काल के विषय में वे लिख गये हैं—

कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू।
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद-जल जिउ न डेराई।
जेहि के ऐसन सेवक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला।
राह हकीकत परै न चूकी। बैठि मारफत मार बुड़ूकी।
ढूँढि उठै लेइ मानिक मोती। जाइ समाइ ज्योति महँ जोती।
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा। कर गहि तीर खेइ लेइ आवा।

सांची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरय पहुँचै सोइ॥

आखिरी कलाम

यह जायसी की तीसरी कृति है। यह इसी नाम से फारसी लिपि में मुद्रित है। इसमें छंदों का क्रम 'पदमावत' जैसा है। आकार-प्रकार में यह 'अखरावट' से मेल खाती है। 'पदमावत' जैसा वृहत् इसका नहीं है। जिस प्रकार अखरावट में सृष्टि-कथा एवं कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि की व्याख्या है उसी प्रकार 'आखिरी कलाम' में सृष्टिकर्ता परमेश्वर की महिमा, मृत्यु के वाद जीव की दशा तथा कयामत के आखिरी न्याय का वर्णन हुआ है। इसी छोटे से ग्रन्थ में कवि ने अपने जन्म तथा निवास स्थान का विशेष रूप से उल्लेख किया है और लिखा है कि उसके पैदा होते ही एक भयानक भूकंप हुआ था।

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥
आवत उघत-चार विधि ठाना।
भा भूकंप जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र-विधि भाईं।
फिरै अकाश रहँट कै नाईं॥
गिरि पहार मोदिनि तस हाला।
जस चाला चलनी भरि चाला॥

सन नव सै सत्ताइस अहा।
कथा-अरंभ-बैन कवि कहा।

इस कथन के अनुसार उनका जन्म हिजरी सन् ९०० ईस्वी अर्थात् सन् १४९२ के लगभग ठहरता है। जायसी ने अपने पद्मावत काव्य के आरंभ में सृष्टि और सृष्टिकर्ता को याद करने के बाद फ़ारसी के मसनवी काव्य की परंपरा का अनुकरण करते हुए 'शाहेवक्त' शेरशाह की भी प्रशंसा की है और चूँकि शेरशाह के शासनकाल का आरंभ १५४० ईस्वी से होता है, इसलिए यही समय जायसी का भी समझना चाहिये।

एक प्रचलित जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म एक दरिद्र कुल में हुआ था। जब ये सात वर्ष के बालक थे तभी इनके शीतला का प्रकोप हुआ। उस बीमारी में इन्हें प्राण संकट तक उपस्थित हो गया। इनकी माता ने मकनपुर के शाहमदार की मनौती मानी, तब कहीं जाकर ये स्वस्थ हुए। इस बीमारी से ये बच तो गये परन्तु इनकी एक आँख जाती रही तथा एक कान की श्रवणशक्ति भी नष्ट हो गई। नीचे दिये दोहे की अर्धाली से प्रकट है कि इनकी बाईं आँख और बायाँ ही कान जाते रहे थे—

मुहमद बाईं दिसि तजा, एक सरवन, एक आँखि।

'एक आँख कवि मुहमद गुनीं' इस प्रकार अपनी कुरूपता का उल्लेख करते हुए भी जायसी उस पर निराश और दुखी नहीं प्रतीत होते। उसे वे परमात्मा की देन समझकर स्वीकार करते हैं। तभी तो उन्हें देखकर उनकी कुरूपता का उपहास करनेवाले से वे पूछ बैठते हैं कि—

मोहिं का हँसेसि, कि कोहरहि ?

अर्थात् तू मुझ पर हँसता है या मेरे बनानेवाले कुम्हार पर ?

सुन्दर और स्निग्ध चित्र है। एकान्त पारमार्थिक दृष्टिकोण में काव्य की सरसता कब संभव है? इसीलिए इस अन्योक्ति काव्य में लोक-पक्ष ही गहरे रंगों से रँगा है। अध्यात्मपक्ष की अस्फुट-व्यंजना केवल जहाँ-तहाँ ही अपनी झलक दिखाती है। कवि-हृदय की विभूति दोनों हाथों से इस काव्य में लुटाकर जायसी स्वयं अमर हो गए हैं और सरस्वती के मन्दिर में छोड़ गए हैं अपनी अक्षय निधि। इस अनुपम अंजलि के लिए हम हिन्दू और तुरुक का भेद-भाव मिटाकर उनका अभिनंदन करते और कहते हैं कि हे कवि शिरोमणे! तुमने हमारी वाणी को अपनी लेखनी से लिखकर धन्य किया है। तुम्हारे काव्य में हिन्दू और मुस्लिम तत्वज्ञान को पृथक पृथक तलाशने की हम परवाह नहीं करते, न तुम्हारे हाथों अपने आदर्शों की लांछना का भय ही होता है, इसलिए तुम्हारी सफलता-विफलता के साथ हमारा हर्ष-विषाद पूर्णतया संलग्न है।

जायसी का हिन्दी-साहित्य पर ऋण

भारत में इस्लाम विजेता बनकर आया था। प्राचीन आर्य संस्कृति की वारिस महान् हिन्दू जाति उससे आतंकित और संत्रस्त ही अधिक हुई थी प्रभावित कम। भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना के बाद पारस्परिक संसर्ग आवश्यक हो गया और एक दूसरे के निकटतर पहुँचने का समय आया। यद्यपि विजेता और विजित का भेद-भाव बना हुआ था पर पारस्परिक सहानुभूति का क्षेत्र धीरे-धीरे विस्तृत हो रहा था। धार्मिक कट्टरता दोनों ओर से व्यवधान बनकर उस आदान प्रदान में बाधा उपस्थित करती थी, तो विचार की दुनियाँ में उसकी भर्त्सना और उसका तिरस्कार भी किया जाता था। कबीर जैसे साधकों की वाणी इसका उदाहरण है। उन्होंने सदा सत्यान्वेषी दृष्टिकोण से जीवन की मीमांसा की, और मिथ्यापंथी हिन्दू और मुस्लिम दोनों की कटु आलोचना करने में कभी कमी नहीं की। परन्तु यह सब करके कबीर ने एक सर्जन का काम किया। उनकी कड़वी औषधि और चीरफाड़ ने जनता के मानसिक

भला इसका क्या उत्तर हो सकता ? कोई राजा हो या रंक परमात्मा के प्रति सभी समानभाव से ऋणी हैं। उसकी अच्छी या बुरी सृष्टि पर किसी को हँसने का अधिकार कहाँ है ? आज अगर कोई धनवान गरीब पर, या रूपवान कुरूप पर, हँसने का साहस करता है तो क्या कल ही वह दूसरों द्वारा हँसी का पात्र नहीं हो सकता है ? इतनी परिमित शक्ति रखकर भी यदि कोई मदान्ध हो जाता है तो समझना चाहिए कि वह उस समय उस परम सत्ता की प्रतीति से दूर हो गया है। उसे जायसी जैसे सदा ईश्वरानुभूति में लीन सन्त ही सचेत कर सकते हैं।

जायसी सूफी सन्त थे। इनकी गणना निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परंपरा में है। शेख मुहीद्दीन इनके धर्मगुरु थे। यह सब होते हुए भी भारतीय संत-परम्पराओं का प्रभाव उन पर पूरी तरह पड़ा था। उनकी उदार वृत्ति में संकुचित दृष्टिकोण का अभाव है। सभी मतों और परंपराओं के साधु-सन्यासियों के साथ उनका सत्संग होता था और वे उनकी मान्यताओं को आदर की दृष्टि से देखते थे। उनकी इस बहु-श्रुतता और उदाराशयता का परिचय पद्मावत में कई स्थलों पर मिलता है। इतना होने पर भी अपने धर्म पर उनकी श्रद्धा अटल थी।

जायसी के सार्वदेशिक और उदार दृष्टिकोण को समझने के लिए पहले पद्मावत की कथा को ही लीजिये। मुसलमान होकर भी उन्होंने हिन्दू कथानक का आधार लिया है और पूरी सहृदयता से उसका निर्वाह किया है। उसमें सिंघलद्वीप का वर्णन एवं पद्मिनी स्त्रियों का होना और रतनसेन का योगी बनकर वहाँ सिद्धि के लिए जाना आदि गोरखपंथी साधुओं के अनुसार हुआ है। हिन्दू देवी-देवताओं का वर्णन भी उन्होंने पूरी श्रद्धा के साथ किया है। इसी प्रकार हठ योग, वेदान्त और रसायन आदि की मान्यताओं का जहाँ तहाँ उल्लेख हुआ है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, कि धार्मिक हठवादिता व्यर्थ है। परमात्मा की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं यथा—

देने की प्रेरणा जायसी से प्राप्त करते रहे हैं। इस दृष्टि से उनका हिन्दी और हिन्दू-मुस्लिम जगत पर बहुत बड़ा ऋण रहा है।

'पद्मावत' की कथा में इतिहास और कल्पना का संयोग

'पदमावत' में ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं का उल्लेख होने से उसे ऐतिहासिक काव्य भी कह सकते हैं, परन्तु है वह काव्य। इतिहास नहीं। कवि ने अपनी कथा का बीज प्रचलित लोकगाथा से लिया प्रतीत होता है। कहते हैं, संयुक्त प्रान्त में प्राचीन काल से 'रानी पदमिनी और हीरामन तोते' की जो लोक-गाथा प्रचलित चली आ रही थी, जिसे घर-घर द्वार-द्वार कुछ पेशेवर गाने वाले गा-गाकर अपनी अजीविका पैदा करते थे, जिसमें प्रेम की पीड़ा, विरह व्याकुलता आदि मानवहृदय की शाश्वत भावनाओं की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई थी, उसी को जायसी ने अपने काव्य का आधार बनाया। जायसी पर सभी धर्म और मतों का प्रभाव था। वे एक प्रकार से लोक-जीवन की रुचि को अपने भीतर लिए रहते थे। परन्तु विशेष रूप से सूफी मत ही उन्हें मान्य था, जिसके अनुसार उनके आराध्य की कल्पना बड़ी ही सौंदर्यमयी और माधुर्यपूर्ण थी। उसके लिए आत्मा की बेकली और प्रेम की पीर का उनके यहाँ बड़ा ऊँचा स्थान है। यह कथानक इन सब प्रवृत्तियों के अनुकूल उन्हें प्रतीत हुआ। फिर अवध में पैदा होने के कारण बचपन से वे यह कथा सुनते आ रहे होंगे और उसके गीतों का गहरा प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा होगा। अतः इस लोक-कथा द्वारा लोकपक्ष और अध्यात्मपक्ष दोनों की अपने मनोनुकूल व्यंजना होते देखकर जायसी ने उसे काव्य का रूप दिया। बहुत संभव है दोहे और चौपाइयों की शैली भी जायसी ने वही रक्खी हो जो प्रचलित चली आ रही थी, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उस मूल कथा-बीज के साथ उन्होंने अपनी कल्पना और भावुकता का जी खोलकर उपयोग किया। या यों कह सकते हैं कि जायसी जैसे महाकवि के हाथों में पड़कर यह लोक-कथा एक प्रेम-काव्य बन गई—ऐसा प्रेम

विधिना के मारग हैं तेते।
सरग नखत तन रोवाँ जेते।

जायसी की इसी सार्वदेशिक भावना ने उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों में श्रद्धेय बना दिया था। फिर वे बड़े सरल स्वभाव तथा त्यागी वृत्ति के थे। कहते हैं कि वे जायस में साधारण किसान के रूप में रहते और परिश्रम करते थे। उनके साधु-स्वभाव और भक्त-हृदय का लोगों पर बड़ा अच्छा प्रभाव था। उनका नियम था कि वे अकेले भोजन न करते थे। एकबार एक कोढ़ी के साथ बैठकर भोजन करके वे बड़े सन्तुष्ट हुए थे। उनकी समदर्शी भावना को इस घटना से बहुत बल मिला था। उनका जीवन यों ही एक तपस्वी साधु का जीवन था, परन्तु समय-समय पर उनके ऐहिक बन्धन धीरे-धीरे कटते गये और प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होते-होते वे और अधिक विरक्त होगये तथा फकीर बनकर जहाँ-तहाँ घूमने लगे। उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाली घटनाओं में उनके बेटों की मृत्यु की घटना भी है। कहते हैं कि इनके बेटे मकान गिर जाने से उसके नीचे दबकर मरे थे।

गृहत्यागी जायसी अपने समय के सिद्ध फकीर माने जाते थे। चारों ओर क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी में उनका बड़ा मान था। अमेठी के राजा रामसिंह उन पर विशेष श्रद्धा रखते थे। कहते हैं जायसी के आशीर्वाद से ही उनके पुत्र पैदा हुआ था। जायसी अक्सर अमेठी के आसपास के वन में जाकर रहा करते थे। कहते हैं इनकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई थी, एक शिकारी की गोली लगने से ये मरे थे। राजा रामसिंह ने अमेठी के गढ़ के समीप ही इनकी कब्र बनवाई।

जायसी के लिखे हुए तीन ग्रंथ मिलते हैं—(१) पदमावत, (२) अखरावट और (३) आखिरी कलाम। इनकी रचना दोहा-चौपाई

जायसी का धर्म

जायसी मुसलमान थे। इस्लाम उनका धर्म था अपने धर्म के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। पैग़म्बर मुहम्मद साहेब के प्रति उन्होंने पूर्ण श्रद्धा प्रकट की है और उन्हें परमात्मा की ज्योति से निर्मित बताया है—

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाम मुहम्मद पूनौ-करा ॥
प्रथम ज्योति विधि ताकर साजी। औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी ॥
दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा। भा निरमलजग मारग चीन्हा ॥
जो न होत अस पुरुष उजारा। सूझि न परत पथ अँधियारा ॥
दूसर ठाँव दैव वै लिखे। भये धरमी जे पाढ़त सिखे ॥
जगत वसीठ दई ओहि कीन्हा। दुइ जग तरा नाँव जेहि लीन्हा ॥

'आखिरी कलाम' में बहिश्त, रसूल और फरिश्तों का जो वर्णन है यह सब इस्लाम मान्यता के अनुसार है। और भी जहाँ-तहाँ उन्होंने 'मुहम्मद खेवा' (मुहम्मद के मत) का वर्णन किया है। सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के वर्णन में भी वे इस्लाम के अनुसार चले हैं। यद्यपि उन्होंने संसार के दूसरे धर्मों को ईश्वरीय मार्ग मानने की उदारता दिखाई है—

विधिना के मारग हैं जेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते ॥

परन्तु एक कट्टर मुसलमान की भाँति उन सब मार्गों में श्रेष्ठ इस्लाम को ही बताया है। उसमें दीक्षित होने को उन्होंने कैलाश अर्थात् स्वर्ग की उपलब्धि कहा है—

तिन्ह महँ पन्थ कहों भल गाई। जेहि दूनौं जग छाज वड़ाई ॥
सो वड़ पन्थ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास वसेरा ॥

यह सब कुछ होते हुए भी जायसी सूफी सन्त थे। उनके लिए इस्लाम की निराकारोपासना के स्थान पर सकारोपासना को प्रधानता देना मुख्य था। ईश्वर को सौंदर्यमय, प्रेममय मानना तथा उस सौंदर्य

छंदों में हुई है एवं इनकी भाषा अवधी है। जायसी ने अपनी रचनाएँ ग्रामीण अवधी भाषा में की हैं, उसपर नागरिक और साहित्यिक पालिश का लेश भी नहीं है। अवधी भाषा के ठेठ रूप को पदमावत जैसे महान काव्य ग्रंथ की भाषा का आधार बनाकर जायसी ने ही पहले पहल उस भाषा के सामर्थ्य को प्रकट किया है, उसी प्रकार जिस प्रकार विद्यापति ने मैथिली-हिन्दी के सामर्थ्य को। बाद में गोस्वामी तुलसीदास ने उसे साहित्यिक एवं परिमार्जित भाषा का रूप दिया। इनके दो ग्रन्थ और कहे जाते हैं, नैनावत और ....जो अप्राप्य हैं।

पदमावत

यह एक प्रेम-कहानी है, जिसमें इतिहास और कल्पना का मधुर मिलन हुआ है। चित्तौड़ की रानी पद्मिनी के इतिवृत्त के साथ सिंहलद्वीप के वातावरण को बड़े कौशल से जोड़ दिया गया है। गोरखपंथी साधुओं की कल्पना के अनुसार सिंहल पद्मिनी जाति की सुन्दरियों से पूर्ण माना गया है। उसी सिंहल के राजा गंधर्वसेन की अपरूप लावण्यवती कन्या पद्मिनी है, जिसके सौन्दर्य की चर्चा सात द्वीप, नवखंड में पहुँची हुई है। सब जगह के राजकुमार उसके पाणिग्रहण के लिये आ-आकर फिर जाते हैं परन्तु पद्मिनी का पिता किसी को अपनी कन्या के योग्य नहीं समझता। पद्मिनी का तोता हीरामन वर खोजने के कठिन भार को अपने ऊपर लेता है। वह सिंहल से उड़कर जाता है परन्तु मार्ग में एक बहेलिए द्वारा पकड़ा जाता है। बहेलिया उसे चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेंच देता है। ब्राह्मण द्वारा वह चित्तौर के राजा रतनसेन की रानी नागमती के पास पहुँचता है। रूपगर्विता नागमती एक दिन उससे पूछ बैठी—हीरामन, तुमने देश-विदेश भ्रमण किया है। बताओ मेरे समान सुन्दरी भी कहीं देखी है?—इसके उत्तर में हीरामन ने पद्मिनी के रूप की प्रशंसा की और बताया कि रानी! उसमें और तुममें दिन और अँधेरी रात का अन्तर है।

उन्होंने की है, और उसे नाना रूपकों के मिस व्यक्त किया है। उनकी अनुभूति बड़ी गहरी है और उनके प्रेम की बेकली बड़ी तीव्र है, किन्तु लोक-बाह्य होने से वह ऐकान्तिक है। जायसी साधक के साथ-साथ एक भावुक कवि का हृदय रखते थे। उनकी अनुभूति व्यापक और विश्व-जनीन है, इसीलिए उनके रहस्यवाद को स्वर्गीय शुक्लजी ने 'अद्वैती रहस्यवाद' नाम दिया है, और कहा है, कि "वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूपमाधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृङ्गार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना 'पद्मावत' में अधिक मिलती है।

जायसी कवि थे और भारतवर्ष के कवि थे। भारतीय पद्धति के कवियों की दृष्टि फ़ारस वालों की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापरों पर कहीं अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपों को कहीं अधिक परखने वाली होती है। इससे उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्यसंकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। कबीर (आदि) में चित्रों की न वह अनेकरूपता है, न वह मधुरता। देखिये, उस परोक्ष ज्योति और सौंदर्य सत्ता की ओर कैसी लौकिक दीप्ति और सौंदर्य के द्वारा जायसी संकेत करते हैं—

बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि, ससि, नखत दियहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ तहँ विहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग-हीर।"

नागमती ने देखा कि कहीं यही बात यह राजा रतनसेन के सामने न कहदे। इस डर से उसने अपनी दासी से हीरामन को मार डालने के लिए कहा, परन्तु दासी ने उसे छिपा रक्खा। जब राजा रतनसेन आखेट से लौटकर आया तो उसे हीरामन के द्वारा सारी बात मालूम होगई। पद्मिनी के रूप-लावण्य की प्रशंसा सुनकर वह तनमन की सुधि भूल गया और जोगी का वेश बनाकर घर से निकल गया। उसके साथी सोलह हजार राजकुमारों ने भी अपना-अपना घर छोड़ दिया और वैरागी बन गये। इन सब का पथप्रदर्शक बना हीरामन।

वियोगी जोगियों का यह समुदाय कलिंग से जहाजों में सवार होकर सिंहल की ओर चला। नाना कष्ट झेलकर अन्त में वे सब सिंहल पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने सिंहल के एक प्रसिद्ध शिव-मन्दिर में डेरा डाला। उधर हीरामन ने जाकर पद्मिनी को समाचार दिया। यौवनवती पद्मिनी के हृदय में भी प्रेम की पीड़ा होने लगी। श्रीपंचमी के दिन पद्मिनी शिवपूजन के लिए मन्दिर में गई और वहाँ रतनसेन से उसका दृष्टिविनिमय हुआ। राजा पद्मिनी को देखते ही मूर्छित होकर गिर पड़ा। जब वह चली गई तो उसकी व्याकुलता और बढ़ गई। अन्त में भगवान शंकर द्वारा सिद्धि प्राप्त कर उसने सिंहल के गढ़ पर चढ़ाई करने की ठानी। वहाँ वह पकड़ा गया और उसे सूली दिये जाने की आज्ञा हुई। तब सोलह हजार जोगियों की सेना ने, जिसमें महादेव, हनुमान आदि देवता भी वेश बदल कर शामिल होगये थे, गढ़ को घेर लिया। राजा गंधर्वसेन ने भगवान शंकर को पहचान लिया और उनकी इच्छा जानकर पद्मिनी का विवाह रतनसेन से कर दिया। कुछ दिन बाद पद्मिनी को लेकर रतनसेन चित्तौड़ लौट चला। लौटते समय समुद्र में तूफान आगया जिससे रतनसेन पद्मिनी से एकबार फिर विलग होगया परन्तु समुद्र की कन्या लक्ष्मी के प्रसाद से वे फिर मिल गये और पाँच विशेष पदार्थ भेंटमें पाकर अपने घर चित्तौरगढ़ लौट आये।

बरुनि चाप अस ओपहँ, बेधे रन बन-ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

सृष्टि-व्यापारों को अन्य उद्देश्य से देखने की छुट्टी जायसी ऐसे साधक को कहाँ थी ? वे तो परमात्म-सत्ता के सम्बन्ध से ही सब को देखते थे। उसी के संयोग-वियोग और हर्ष-विमर्ष से पृथ्वी और स्वर्ग की जीवनचर्या का निर्माण होता है। बादल उसी के अनुराग से रँगे हैं। सूर्य उसी के वियोग से उत्तप्त है। वसंत और वनस्पति उसी के रंग से रंगीन हैं, इस भेद को समझने वाले जायसी रहस्यवादी कवियों और भावुकों में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उनकी रहस्यात्मक अनुभूति बड़ी गहरी है। वह भावुकता का चरम रूप प्रस्तुत करती है—

सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता।
औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत, रातीं बनसपती।
औ राते सब जोगी जती॥
भूमि जो भीजि भयेउ सब गेरू।
औ राते सब पंखि पखेरू॥
राती सती अगिनि सब काया।
गगन मेघ राते तेहि छाया॥

सूफी रहस्यवादियों की इस परम्परा का प्रभाव माधुर्य भाव के उपासक कृष्ण भक्तों पर पड़ा। वैष्णव कवियों और भक्तों में यह अनुभूति स्पष्ट झलकती है। भारतीय भक्त परम्परा एवं हिन्दी साहित्य की प्रेम-मार्गी शाखा के सूफी कवियों की यह देन बड़ी महत्वपूर्ण है, और जायसी का उसमें प्रमुख भाग है। आगे चल कर इसी से भावात्मक और गीतात्मक साहित्य का स्रोत फूट पड़ा है।

कुछ दिन बाद राजा रत्नसेन ने राघवचेतन नामक एक धूर्त-पंडित को जो उनका दरबारी भी था, देश निकाला दे दिया। वह चित्तौर से चलकर दिल्ली पहुँचा और बादशाह अलाउद्दीन के दरबार में गया। वहां उसने रानी पद्मिनी के रूप की इस प्रकार प्रशंसा की कि अलाउद्दीन व्याकुल हो गया। इस प्रकार अलाउद्दीन को वह चित्तौरगढ़ पर चढ़ा लाया। चित्तौरगढ़ घेर लिया गया पर अलाउद्दीन उसे अपने अधिकार में न कर सका। तब छल से सुलतान की ओर से संधि-प्रस्ताव किया गया। अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ में एक मित्र के रूप में गया और शतरंज खेलते समय किसी प्रकार पद्मिनी को देख लिया। उसे देखते ही वह बेसुध होगया। लौटते समय रतनसेन उसे पहुँचाने के लिए किले से बाहर आया तो सुलतान के सैनिकों द्वारा गिरफ्तार करके दिल्ली पहुँचाया गया।

इस घटना से पद्मिनी बड़ी दुखी हुई पर तुरन्त ही उसने युक्ति से काम करने की सोची। गोरा-बादल नामक दो वीर क्षत्रिय सरदार सात सौ पालकियों में सवार हुए। बादशाह के पास यह संदेश भेज दिया कि रानी पद्मिनी दिल्ली आ रही है। वह सुलतान के महलों में रहने को तैयार है केवल थोड़ी देर राजा रत्नसेन से मुलाक़ात कर लेने की आज्ञा दी जाय। आज्ञा मिल गई। पालकी रतनसेन की कोठरी के पास रक्खी गई। पालकी में से रानी के स्थान पर एक लोहार निकला। उसने राजा की हथकड़ी-बेड़ी काट कर उसे मुक्त कर दिया। राजा घोड़े पर सवार होगया। अन्य वीर-योद्धा भी पालकियों में से निकल पड़े। सुल्तान की सेना के बहुत यत्न करने पर भी रतनसेन फिर उसके हाथ न आया। वह सुरक्षित चित्तौर पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसे पद्मिनी द्वारा कुंभलनेर के राजा देवपाल की दुष्टता का पता चला। उसने भी पद्मिनी को फुसलाने के लिए राजा की अनुपस्थिति में एक दूती को भेजा था। इस पर रतनसेन ने कुंभल-

यत्र तत्र प्रकृति का ऐसा सुन्दर और संश्लिष्ट वर्णन जायसी ने किया है जो पाठक के हृदय को रस मग्न कर देता है। नागमती के विरह की बारहमासी लिखने में जायसी ने सारी सृष्टि को रुला डाला है। मानव हृदय के साथ प्रकृति की कितनी सहानुभूति है। यह सजीव करके दिखा दी है। नागमती के दुख से सारी दुनियाँ दुखी हो गई है, अन्त में एक पक्षी से न रहा गया। उसने आकर रानी से पूछा—

तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी।
कोई दुख रैनि न लावसि आँखी?

रोकर रानी नागमती ने उत्तर दिया—

नागमती कारन कै रोई। का सोवै जो कंत-विछोई।
मनचित हुँते न उतरै मोरे। नैन का जल चुकि रहा न मोरे।
जोगी होइ निसरा सो नाहू। × × × × × ×
जहँवाँ कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भई झूरि वियोगी।
वै सिंगी पूरी गुरु भेंटा। हौं भइ भसम, न आइ समेटा।

हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति?

जायसी के भाव जगत में सारी सृष्टि सहानुभूतिमय है। जब एक एक अणु और परमाणु में वे एक ही ज्योति के दर्शन करते हैं तो एक ही आत्मा का विस्तार सर्वत्र देखें इसमें आश्चर्य ही क्या है। 'मेघदूत' के यक्ष का संदेशा कालिदास ने मेघ के द्वारा भिजवाकर अपनी भावुकता का ही परिचय दिया था। यह भावुकता ही कवियों के काव्य का प्राण है। 'उत्तर रामचरित्र' में भवभूति के भावुक हृदय की शीतल छाया में ही पाठक को विश्राम मिलता है। अपने 'पद्मावत' में जायसी ने भी जगह जगह भावुकता की अमराइयाँ लगाई हैं। उनकी छाहँ में जो शांति हृदय को मिलती है, जो प्रेरणा प्राणों को प्राप्त होती है, काव्य का पारायण किये बिना उसका ठीक अनुभव नहीं हो सकता।

नेर पर चढ़ाई कर दी। दोनों राजाओं में युद्ध हुआ और दोनों परस्पर लड़ते हुए मारे गये। नागमती और पद्मावती दोनों रानियाँ अपने स्वामी के शव के साथ सती हो गईं।

इस संपूर्ण कथा को एक सरस आख्यान काव्य के रूप में लिखकर अंत में जायसी ने लिख दिया है कि--

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई शैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु। लेहु बूझि बूझै जो पारहु।

अर्थात् यह लौकिक आख्यान अपने सहज रूप में एक प्रेम-कथा अवश्य है परन्तु इसका दृष्टिकोण यहीं तक नहीं है। इसमें आध्यात्मिक संकेत भी है। जो विचारशील पाठक हैं अथवा जो विचारने की क्षमता रखते हैं, उन्हें इसमें निरूपित उस अध्यात्म-पक्ष पर भी अवश्य विचार करना चाहिए। ऐसे जिज्ञासु पाठकों की प्रवृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिए ही जायसी को यह बताना पड़ा है कि यह सारी प्रेम-कथा जीवात्मा की परमात्मा को पाने के लिए व्याकुल चेष्टा तथा उनके सम्मिलन की कथा है। इसमें चित्तौर, रतनसेन, सिंहल, पदमिनी, हीरामन, नागमती, राघवचेतन, अलादीन (अलाउद्दीन) और सभी प्रतीक रूप से ग्रहीत हुए हैं। 'आदि' शब्द यहाँ इसलिए जोड़ना प्रतीत होता है कि इनके अतिरिक्त और भी ऐसे व्यक्ति रह जाते हैं पारमार्थिक पक्ष में जिनकी प्रतीकता ग्रहण किये बिना रूपक का ठीक आरोप नहीं होता। लेकिन साथ ही ऐसा करने में कथा और काव्य की संगति का विचार आवश्यक है। काव्यरस की हानि करके आध्यात्म-पक्ष की पुष्टि शायद कवि को भी अभीष्ट न रही होगी; क्योंकि 'पद्मावत' वस्तुतः एक काव्य ही है दर्शन या सिद्धान्तग्रंथ नहीं।

कल्याण की दृष्टि विशेष होने से वे इस प्रकार वर्णन करते हैं। सिंघल द्वीप की अमराई का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

घन अमराउ लाग चहुँपासा। उठा भूमि हुँत लागि अकासा॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भई जग छाँह रैनि होइ आई॥
मलय समीर सोहावनि छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि माँहा॥
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै॥
जेइ छाई वह छाँह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा॥

जायसी की अमराई पथिक को उस परम शांतिका भान करा देती है जिसको पाकर भव-तापों से शांति का अनुभव होने लगता है—इस प्रकार इन महाकवियों ने परंपरा-मुक्त वर्णनों में भी नवीनता और मौलिकता की सृष्टि कर दी है।

'पद्मावत' एक बृहत्काय काव्य है। उसमें स्थल की कमी नहीं है। इसका लाभ उठाकर जायसी ने अनेक ऐसे दृश्यों का वर्णन किया है जो या तो लोकजीवन में महत्व रखते हैं या काव्य-सौंदर्य को बढ़ाने वाले हैं। जैसे पनघट का वर्णन, जलकेलि का वर्णन, प्रतिमा पूजन का वर्णन, वसन्त का वर्णन, विवाह का वर्णन, ज्योंनार वर्णन, युद्ध वर्णन आदि आदि। जब रत्नसेन सिंघल यात्रा के लिए नौकारोहण करता है तो मार्ग के सात समुद्रों का वर्णन भी जायसी ने किया है। सागर वर्णन का पक्ष सजीव और स्वाभाविक हुआ है, जैसे—

भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा।
उठै लहरि पर्वत कै नाईं। फिरि आवै जोजन सौ ताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। माथे रंभ समुद जस होई॥
फिरत समुद जोजन सौ ताका। जैसे भँवै कोहाँर क चाका॥
भै परलै नियराना जबहीं। मरै जो जब परलै तेहि तबहीं॥

अखरावट

यह जायसी का दूसरा ग्रंथ है। यद्यपि पद्मावत की भाँति इसको भी प्रति फारसी लिपि में ही लिखी मिली है, और इसकी रचना भी इस्लामी काव्य पद्धति पर हुई है, परन्तु फारसी के बहर या रुबाई आदि छन्दों का प्रयोग न करके जायसी ने इसमें भी हिन्दी के छन्दों का ही प्रयोग किया है। 'पद्मावत' के अनुसार इसकी रचना में भी हिन्दू और इस्लामी संस्कृतियों और पद्धतियों का मेल हुआ है। पुस्तक का नामकरण भी हिन्दी है। 'पद्मावत' में चौपाई की सात अर्धालियों के बाद दोहे का क्रम रक्खा गया है। 'अखरावट' में उस क्रम का निर्वाह तो है परन्तु उसमें प्रत्येक छोटे के बाद चौपाई आरंभ होने से पूर्व एक सोरठा अधिक दे दिया गया है। उसमें वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर अध्यात्म-सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। आरंभ में इस्लामी मान्यता के आधार पर संक्षेप में सृष्टि-विस्तार की कथा है। इसमें विधि-निषेध, पाप पुण्य, स्वर्ग-नर्क, जीव-ब्रह्म, गुरु और शैतान सभी का वर्णन है। इस छोटी-सी पुस्तक को सूफी संतों का धर्मशास्त्र कह सकते हैं, जिसमें भारतीय दर्शन और उपनिषदों की विचार परंपरा का भी जहाँ-तहाँ समावेश है। जायसी तत्वदर्शी सन्त थे। उनमें हठवाद और संकुचित दृष्टि का अभाव था। उनके उदार दृष्टिकोण में मतों और सम्प्रदायों का दीवार बाधक न थी। जहाँ भी सार्वभौम सौंदर्य, सत्य और गुणों का योग मिला उसे स्वीकार करने में उन्होंने हिचक न की। 'प्रेम की पीर' जो बिना भेदभाव के सार्वजनिक भावना है वही सूफी और वैष्णव दोनों की उपासना का आधार है। 'अखरावट' के अन्त में 'सोऽहं' का उल्लेख है, और इस तत्व की अनुभूति द्वारा पूर्ण शक्ति की उपलब्धि को जायसी ने स्वीकार किया है। इस पुस्तक में उन्होंने अपनी साधना तथा गुरु-परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया है—

काव्य का शृंगार किया है तो दूसरे कवियों का तो कहना ही क्या? परन्तु जायसी का काव्य ग्रामीण अवधी में होने के कारण अधिक प्रचलित नहीं हुआ और सर्वसाधारण में उसकी इन विशेषताओं पर चर्चा भी नहीं हो सकी। 'पद्मावत' की प्रतियाँ प्रायः फारसी लिपि में लिखी हुई प्राप्त हुई हैं, जो अधिकतर मुसलमान सज्जनों के पास मिली हैं। इससे उनके काव्य-कौशल के प्रचार में बाधा पड़ी है। जायसी ने अपभ्रंश काव्य एवं फारसी मसनवी से लाभ अवश्य उठाया है, परन्तु संस्कृत साहित्य का ज्ञान न होने से ये उससे वंचित से हो रहे हैं। इतने पर भी इनकी प्रतिभा दूसरों के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो उठी है। उसका कारण है इनमें भावप्रवणता, निरीक्षण-पटुता और सरल अभिव्यंजना का अद्भुत मेल।

पद्मावत के पात्र और उनका चरित्र-चित्रण

पद्मावत के पात्रों में मनुष्य मुख्य हैं सही किन्तु उनका कार्य अपने से इतर श्रेणी के पात्रों की सहायता बिना नहीं चलता। उन्हें देव-श्रेणी के पात्रों की मदद दरकार है। उनके हितसाधन में सहायक पशु-पक्षी भी होते हैं। बल्कि हीरामन तोता ही एक प्रकार से इस सारी कथा का सूत्रधार है। उसका सृजन कर के जायसी ने जन्मान्तरवाद पर आस्था प्रकट की है और संस्कारों का एक जन्म से दूसरे जन्म में पहुँचना भी माना है। हीरामन में पूर्व भाव की विद्या के संस्कार हैं, वह वयस्क है। उसके गले में कंठी है। वह द्विज होने से ब्राह्मण वर्ग का है। वेदपाठी और पंडित है। वह सूरज (राजा रतनसेन) को चाँद (पद्मावती) से मिलाने का वचन राजा को देता है। वही राजा के हृदय में पद्मावती का प्रेमांकुर पैदा करता है। वही राजा का सिंघल-द्वीप तक पथ-प्रदर्शन करता है। वहाँ पहुँच कर पद्मावती को राजा के पहुँचने का समाचार देता है तथा राजा के प्रेम का इस प्रकार वर्णन करता है कि पद्मावती के हृदय में भी अनुराग की आग प्रज्वलित हो उठती है। वह अपने योगी (प्रेमी) से साक्षात् करने को देवपूजन के

कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू।
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद-जल जिउ न डेराई।
जेहि के ऐसन सेवक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला।
राह हकीकत परै न चूकी। बैठि मारफत मार बुड़ूकी।
ढूँढि उठै लेइ मानिक मोती। जाइ समाइ ज्योति महँ जोती।
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा। कर गहि तीर खेइ लेइ आवा।

सांची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरय पहुँचै सोइ॥

आखिरी कलाम

यह जायसी की तीसरी कृति है। यह इसी नाम से फारसी लिपि में मुद्रित है। इसमें छंदों का क्रम 'पदमावत' जैसा है। आकार-प्रकार में यह 'अखरावट' से मेल खाती है। 'पदमावत' जैसा वृहत् इसका नहीं है। जिस प्रकार अखरावट में सृष्टि-कथा एवं कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि की व्याख्या है उसी प्रकार 'आखिरी कलाम' में सृष्टिकर्ता परमेश्वर की महिमा, मृत्यु के वाद जीव की दशा तथा कयामत के आखिरी न्याय का वर्णन हुआ है। इसी छोटे से ग्रन्थ में कवि ने अपने जन्म तथा निवास स्थान का विशेष रूप से उल्लेख किया है और लिखा है कि उसके पैदा होते ही एक भयानक भूकंप हुआ था।

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥
आवत उघत-चार विधि ठाना।
भा भूकंप जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र-विधि भाईं।
फिरै अकाश रहँट कै नाईं॥
गिरि पहार मेदिनि तस हाला।
जस चाला चलनी भरि चाला॥

पने पिता सागर से कहकर उसने रतनसेन को खोज मँगाया तथा
ंच अनमोल रत्नराशि देकर उन्हें विदा किया। इस अन्तर्कथा का
ी अध्यात्मपक्ष में कोई मेल नहीं है। पद्मावती के प्रति रतनसेन का
ेम आत्मा की परमात्मा के प्रति व्याकुलता के रूप में है, परन्तु यहाँ
पद्मावती को वियोग-व्याकुल दिखाया गया है।

पद्मावति कहँ दुख तस बीता। अस अशोक-बीरो तर सीता।
कनकलता दुइ नारँग फरी। तेहि के भार उठि होइ न खरी।
तेहि पर अलक भुअंगिनि डसा। सिर पर चढ़ै हिए परगसा।
रही मृणाल टेकि दुख-दाधी। आधी कँवल भई, ससि आधी।
नलिन खंड दुइ तस करिहाऊँ। रोमावली बिछूक कहाऊँ।
रही टूटि जिमि कंचन तागू। को पिउ मेरवै देइ सोहागू।
पान न खाइ करै उपवासू। फूल सूख, तन रही न बासू।

पद्मावत में प्रेम-परीक्षा के अनेक स्थल हैं, वहाँ सर्वत्र आध्यात्मिक
रूपक की चिन्ता व्यर्थ है। बिंब-प्रतिबिंब भाव रखने की चेष्टा करके
रूपक-निर्वाह का कवि ने प्रयास नहीं किया है। यदि करता तो काव्य की
सरसता और सरलता का अभाव हो जाता। पद्मावती और नागमती
का अन्त में रतनसेन के साथ सती होजाना भी एक ऐसा ही स्थल है।
ंग, यहाँ तो हमें यही बताना है कि दैवी और अतिमानवीय चरित्रों की
जायसी ने अवतारणा तो की है, काव्य के घटनाचक्र में उनका
सहयोग भी कम नहीं है, परन्तु उनके चरित्र की विशेष व्याख्या की न
आवश्यकता था न कवि उस व्यर्थ प्रयास में प्रवृत्त हुआ है। मनो-
वैज्ञानिक चारित्रिक विकास उनके मानवी पात्रों में ही देखा जाता है
जिनमें रतनसेन, पद्मावती, नागमती, राघवचेतन, सुलतान अलाउद्दीन
तथा गोराबादल मुख्य हैं। इनमें जायसी ने कई पात्रों का आध्यात्मिक
पक्ष में भी अध्याहार करने का संकेत किया है। परन्तु उनके लौकिक
अस्तित्व में किसी प्रकार बाधा उपस्थित नहीं होती।

मिरित-लोक ज्यों रचा हिंडोला।
सरग-पताल पवन-खट डोला॥
गिरि पहार परवत ढहि गये।
सात समुद्र कीच मिलि गये॥
धरती फाटि, छात भहरानी।
पुनि भइ मया जो सिष्टि दिटानी॥

इस पुस्तक के रचनाकाल के संबंध में जायसी का कथन है—

नौ सै बरस छतीस जो भए।
तब यहि कथा क आखर कहे॥

इसमें मकाइल, जिब्राइल, इस्राफील और अज़राइल आदि फरिश्तों के कार्यों का उल्लेख करते हुए रसूल मुहम्मद का आखिरी न्याय में प्रवृत्त होना वर्णित है। अंत में इस्लामी धर्म-ग्रंथों के स्वर्ग और उसके आनन्द का इस प्रकार वर्णन करते हुए पुस्तक को समाप्त किया गया है—

नित पिरीत, नित नव नव नेहू।
नित उठि चौगुन होइ सनेहू॥
नित्तइ नित्त जो बारि बिया है।
बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै॥

तहा न मीचु, न नींद दुख, रह न देह महँ रोग।
सदा अनंद 'मुहम्मद' सब सुख मानैं भोग॥

जायसी की जिन तीन कृतियों 'पदमावत', 'अखरावट' और 'आखिरीकलाम' का क्रमशः यहाँ परिचय दिया गया है, उनसे यह तो स्पष्ट है कि कवि को अमर कीर्ति दिलानेवाली उसकी पहली कृति ही है। भाषा और छन्द-प्रबंध एक-सा होते हुए भी अन्य दोनों रचनाएँ काव्य की कोटि से बाहर हैं। केवल 'पदमावत' को ही जायसी की काव्य प्रतिभा का प्रतीक मानना चाहिए। उसी में लौकिक जीवन का सरस,

अबहु मया करु, करु जिउ फेरा।
मोहि जियाउ कंत देइ मेरा॥
रूपति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ॥

अपने स्वामी के लिए उसका जी कहता है कि—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन! उड़ाव।
मनु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥

हृदय की इसी उदारता, प्रेम की इसी अशक्तता, के बल पर उसे अपने स्वामी का अखंड सौभाग्य प्राप्त था, उसने स्वयं अपने दाम्पत्य-जीवन की उपमा सारस की जोड़ी से दी है—

सारस जोड़ी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह।

जब सिंघल से लौट कर रतनसेन उसके महल में पहुँचता है, तो स्वाभाविक मान में उसका हृदय भर जाता है—

नागमती मुख फेरि बईठी।
सौंह न करै पुरुष सौं दीठी॥
ग्रीषम जरत छांड़ि जो जाई।
सो मुख कवन दिखावै आई?

वह अपने स्वामी की बड़ी मार्मिक भर्त्सना करती है—

काह हँसो तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह॥
भलेहि सेत गंगाजल मीठा।
जमुन जो सामनीर अति मीठा॥

सचमुच ही पद्मावती और नागमती के प्रेम में गंगा और जमुना के जल का सा अन्तर है। वह देखने में शुभ्र है यह पीने में मधुर है। इस प्रकार नागमती के जीवन को व्यथा की ज्वाला में तपाकर जायसी ने उसे आदर्श बना दिया। इस दुखिया नारी के लिए पाठक की मन में

सुन्दर और स्निग्ध चित्र है। एकान्त पारमार्थिक दृष्टिकोण में काव्य की सरसता कब संभव है? इसीलिए इस अन्योक्ति काव्य में लोक-पक्ष ही गहरे रंगों से रँगा है। अध्यात्मपक्ष की अस्फुट-व्यंजना केवल जहाँ-तहाँ ही अपनी झलक दिखाती है। कवि-हृदय की विभूति दोनों हाथों से इस काव्य में लुटाकर जायसी स्वयं अमर हो गए हैं और सरस्वती के मन्दिर में छोड़ गए हैं अपनी अक्षय निधि। इस अनुपम अंजलि के लिए हम हिन्दू और तुर्क का भेद-भाव मिटाकर उनका अभिनंदन करते और कहते हैं कि हे कवि शिरोमणे! तुमने हमारी वाणी को अपनी लेखनी से लिखकर धन्य किया है। तुम्हारे काव्य में हिन्दू और मुस्लिम तत्वज्ञान को पृथक पृथक तलाशने की हम परवाह नहीं करते, न तुम्हारे हाथों अपने आदर्शों की लांछना का भय ही होता है, इसलिए तुम्हारी सफलता-विफलता के साथ हमारा हर्ष-विषाद पूर्णतया संलग्न है।

जायसी का हिन्दी-साहित्य पर ऋण

भारत में इस्लाम विजेता बनकर आया था। प्राचीन आर्य संस्कृति की वारिस महान् हिन्दू जाति उससे आतंकित और संत्रस्त ही अधिक हुई थी प्रभावित कम। भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना के बाद पारस्परिक संसर्ग आवश्यक हो गया और एक दूसरे के निकटतर पहुँचने का समय आया। यद्यपि विजेता और विजित का भेद-भाव बना हुआ था पर पारस्परिक सहानुभूति का क्षेत्र धीरे-धीरे विस्तृत हो रहा था। धार्मिक कट्टरता दोनों ओर से व्यवधान बनकर उस आदान प्रदान में बाधा उपस्थित करती थी, तो विचार की दुनियाँ में उसकी भर्त्सना और उसका तिरस्कार भी किया जाता था। कबीर जैसे साधकों की वाणी इसका उदाहरण है। उन्होंने सदा सत्यान्वेषी दृष्टिकोण से जीवन की मीमांसा की, और मिथ्यापंथी हिन्दू और मुस्लिम दोनों की कटु आलोचना करने में कभी कमी नहीं की। परन्तु यह सब करके कबीर ने एक सर्जन का काम किया। उनकी कड़वी औषधि और चीरफाड़ ने जनता के मानसिक

इसी तरह की छल-प्रपंचमयी विद्या द्वारा राजा भोज छले गये थे। पण्डितों के भावी संकेत सूचक इन दुरर्थक शब्दों के चक्रमें में आकर रतनसेन राघवचेत को निर्वासन की आज्ञा देता है।

इस समाचार से पद्मावती कुछ अस्त व्यस्त होती है। वह कहती है—

ज्ञान दिस्टि धनि अगम विचारा।
भल न कीन्ह अस गुनी निसारा॥
जेहि जाखिनी पूजि ससि काढ़ा।
सूर के ठाँव करै पुनि ठाढ़ा॥
कवि कै जीभ खड़ग हरद्वानी।
एक दिसि आगि, दुसर दिसि पानी॥

इस अशंका से भयभीत पद्मावती ने राघव चेतन को प्रसन्न करने के निमित्त सूर्यग्रहण का दान लेने के वहाने वुलाया। राघवचेतन व्राह्मण था, इनकार कैसे करता? जायसी कहते हैं—

बाह्मन जहाँ दच्छिना पावा।
सरग जाइ जौ होइ वुलावा॥

परन्तु अव तक वह यह न जानता था कि पद्मावती इतनी सुन्दरी है। जब झरोखे से वह अपने हाथ का कंकण फेंकने लगी तो उसकी रूप-छटा देखकर राघवचेतन, जो विद्या और वुद्धि में इस प्रकार सचेत था, हतचेत होकर गिर पड़ा। उसके मुँह से कवि ने कहलाया भी है—

लेइ गई जीउ दच्छिना धोखे।

परन्तु पद्मावती की प्राप्ति का कोई उपाय न देखकर उसने दूसरा ही मार्ग ग्रहण करना उचित समझा, और कहा—

कँवल बखानौ जाइ तहँ, जहँ अलि अलाउदीन।
सुनि कै चढ़ै भानु होइ, रतन जो होइ मलीन॥

स्वास्थ्य को सड़ने से जरूर बचा लिया, परन्तु वह अमृत से घूँट चनकर उसे अपनी ओर खींच न सकी। जायसी ने उस कमी की पूर्ति की। उन्होंने लोक-हृदय और लोकजीवन की नाड़ी का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। विधि-निषेध और खंडन-मंडन की शैली से वास्ता न रखकर उन्होंने कहानी के मधुर पथ्य का आधार लिया। लोकजीवन के रसिया जायसी ने अपने कथानक का चुनाव हिन्दू या मुस्लिम पौराणिक साहित्य से न करके लोक साहित्य से ही किया, किन्तु उसमें सत्य का आरोप करने के लिए पद्मावती को इतिहास-प्रसिद्ध पद्मिनी के साथ तथा बादशाह को सुलतान अलाउद्दीन के साथ जोड़ दिया है। इससे दो बातें हुईं एक तो 'सिंहल' आदि की लोकप्रसिद्ध सिद्धिपीठ का आधार मिल गया, जहाँ कल्पना की अतिरंजना भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होती। दूसरे पद्मावती जैसी सुन्दरी के मनमाने रूपवर्णन की सुविधा हो गई और यह सब हुआ प्रेम की उदात्त भावना को तीव्रतर करके दिखाने के लिए। इस प्रकार प्रेम-कथा को लेकर जायसी ने अपने काव्य का निर्माण किया, और इस काव्य के द्वारा प्रेम की भावना को सर्वसाधारण की वस्तु बनाया। मुसलमानों के सामने इस हिन्दू प्रेमकथा को रख कर उन्होंने बताया कि मानव-हृदय सर्वत्र एक-सा ही है। प्रेम ही उसके लिए स्वास्थ्यप्रद पथ्य है। प्रतिनायक अलाउद्दीन प्रेम की उस सुन्दर दुनियाँ के नाश का कारण बनता है। यह दिखाकर जायसी ने जहाँ अपने हृदय की शालीनता को प्रकट किया है वहीं प्रकारान्तर से न्याय-नीति की भावना के प्रचार में योग दिया है। पाठक हिन्दू या मुसलमान कोई भी हो उसकी सहानुभूति कभी अलाउद्दीन के साथ नहीं हो सकती। यदि उसे न्यायासन पर बिठा दिया जाय तो वह बिना जातीय पक्षपात के उस दुष्ट पापी को नरक की ज्वाला में जलने की आज्ञा सुना देगा। इस सहानुभूति और समानता का भाव हिन्दू-मुसलमानों में प्रचारित करने में जायसी के इस काव्य ने अच्छा कार्य किया। आगे के लेखक भी भाषा और वेश का विचार किये बिना सांस्कृतिक-सम्मिलन में योग

'पद्मावत' में पात्रों के संबंध से प्रेम के भिन्न-भिन्न रूप

जिस प्रकार स्वाति की बूँद का पात्र-भेद से भिन्न-भिन्न फल होता है, उसी प्रकार 'पदमावत' में प्रेम-तत्व के पात्र भेद से भिन्न रूप मिलते हैं। रतनसेन को पदमावती के प्रति प्रेम एक तरह का है, नागमती का रतनसेन के प्रति प्रेम उससे भिन्न प्रकार का है। पदमावती का रतनसेन के लिए प्रेम और ही प्रकार का है। अलाउद्दीन का पदमावती के प्रति प्रेम अपनी अलग कोटि रखता है।

आध्यात्मिक रूपक की सार्थकता के हेतु, जिसका उल्लेख कवि ने काव्य के अन्त में किया है, रतनसेन का पदमावती के लिए प्रेम विह्वल होकर अपने शरीर का भाव भूल जाना जीव की परमात्मा के लिए स्वाभाविक व्याकुलता का सूचक है। किन्तु लौकिक अर्थ में यह कुछ अस्वाभाविक सा हो गया है। हीरामन से पद्मावती के रूप और यौवन की प्रशंसा सुनते ही राजा रतनसेन का व्याकुल हो उठना, अपना घर-बार छोड़ देना, नागमती जैसी प्रेम सी मूर्ति की चिन्ता न करके एक अज्ञात सुन्दरी के लिए जोगी बनकर निकल भागना, जिसके हृदय की स्निग्धता और रुचि का उसे कोई ज्ञान नहीं है, बहुत कुछ औपन्यासिक हो गया है। यह प्रेम फारस की प्रेम-परंपरा से मिलता जुलता है जिसमें पुरुष-प्रेमी स्त्री प्रेमपात्र के लिए जीवन के जोखिम की परवाह न करके उसमें लग जाता है। शीरीं और फरहाद की प्रेम-कहानी कुछ इसी प्रकार विकसित होती है। पर्वत काट कर नहर बनाने की सूरत में ही प्रेमिका की प्राप्ति होने की आशा में जीवन का संकट मौजूद है। यहाँ भी सिंहल तक पहुँचने में ही सात समुद्रों को पार करना है। इन समुद्रों की कल्पना भी कवि ने बड़ी विचित्र की है। यदि किसी प्रकार उन्हें पार भी किया जा सके तो भी पदमावती की प्राप्ति एक आकाश कुसुम की प्राप्ति से कम कठिन नहीं है। प्रश्न होता है कि भारतीय मिट्टी से बने रतसेन में, जो स्वयं विवाहित है जिसे अपने दाम्पत्य जीवन

देने की प्रेरणा जायसी से प्राप्त करते रहे हैं। इस दृष्टि से उनका हिन्दी-और हिन्दू-मुस्लिम जगत पर बहुत बड़ा ऋण रहा है।

'पद्मावत' की कथा में इतिहास और कल्पना का संयोग

'पदमावत' में ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं का उल्लेख होने से उसे ऐतिहासिक काव्य भी कह सकते हैं, परन्तु है वह काव्य। इतिहास नहीं। कवि ने अपनी कथा का बीज प्रचलित लोकगाथा से लिया प्रतीत होता है। कहते हैं, संयुक्त प्रान्त में प्राचीन काल से 'रानी पदमिनी और हीरामन तोते' की जो लोक-गाथा प्रचलित चली आ रही थी, जिसे घर-घर द्वार-द्वार कुछ पेशेवर गाने वाले गा-गाकर अपनी अजीविका पैदा करते थे, जिसमें प्रेम की पीड़ा, विरह व्याकुलता आदि मानवहृदय को शाश्वत भावनाओं की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई थी, उसी को जायसी ने अपने काव्य का आधार बनाया। जायसी पर सभी धर्म और मतों का प्रभाव था। वे एक प्रकार से लोक-जीवन की रुचि को अपने भीतर लिए रहते थे। परन्तु विशेष रूप से सूफी मत ही उन्हें मान्य था, जिसके अनुसार उनके आराध्य की कल्पना बड़ी ही सौंदर्यमयी और माधुर्यपूर्ण थी। उसके लिए आत्मा की बेकली और प्रेम की पीर का उनके यहाँ बड़ा ऊँचा स्थान है। यह कथानक इन सब प्रवृत्तियों के अनुकूल उन्हें प्रतीत हुआ। फिर अवध में पैदा होने के कारण बचपन से वे यह कथा सुनते आ रहे होंगे और उसके गीतों का गहरा प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा होगा। अतः इस लोक-कथा द्वारा लोकपच्च और अध्यात्मपच्च दोनों की अपने मनोनुकूल व्यंजना होते देखकर जायसी ने उसे काव्य का रूप दिया। बहुत संभव है दोहे और चौपाइयों की शैली भी जायसी ने वही रक्खी हो जो प्रचलित चली आ रही थी, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उस मूल कथा-बीज के साथ उन्होंने अपनी कल्पना और भावुकता का जी खोलकर उपयोग किया। या यों कह सकते हैं कि जायसी जैसे महाकवि के हाथों में पड़कर यह लोक-कथा एक प्रेम-काव्य बन गई—ऐसा प्रेम

होता है। सती द्वारा प्रेम-परीक्षा में वह इसीलिए सफल हो सका है कि उसे अपनी प्रेयसी के आकार-प्रकार का ज्ञान है। बाद की घटनाओं में उसका प्रेम औचित्यपूर्ण और स्वाभाविक है। ज्यों ज्यों पदमावती के साथ उसका समागम विस्तृत होता गया है त्यों त्यों प्रेम का रूप भी सम्पन्न और भद्र होता गया है। परिणति में प्रेम की स्वाभाविकता का अच्छा निर्वाह हुआ है। उसमें क्रमशः लोककल्याण की भावना का विकास भी, छानबीन के साथ देखें तो, मिल जाता है। यदि प्रारंभ से ही रतनसेन का प्रेम एकान्तिक और अनन्य मान लिया जाय तो बहुत निराश होना पड़ेगा। क्योंकि पदमावती के साथ शारीरिक संबंध होने के कुछ समय बाद हम रतनसेन में एक तृप्ति का अनुभव करते हैं, जो विरक्ति का आभास देती है। वह अब सिंघल छोड़कर चित्तौड़ की ओर जाना चाहता है काव्य में ऐसी कोई घटना घटित तो नहीं हुई कि पदमावती उसके साथ जाने से इनकार कर देती और तब देखती कि वह क्या निर्णय करता? परन्तु ऐसा होने पर भी वह चित्तौड़ जाये बिना नहीं मानता यही कहने को जी चाहता है। इस सूरत में रतनसेन के प्रेम की शृंखला छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाती है और वह एक साधरण पुरुप का साधारण नारी के प्रति नैसर्गिक ऐन्द्रिय-प्रेम-मात्र रह जाता है। अपने शुद्ध अर्थ में प्रेम वह है जो स्वार्थ और वासना परक न होकर आत्मोत्सर्ग की भावना से पूर्ण हो, जो एक बार जगकर उत्तरोत्तर घनतर होता जाय, जो प्रेम पात्र के सुख-संतोष की ओर ही देखे अपने सुख संतोप की ओर से मुँह मोड़ ले।

नागमती का रतनसेन के प्रति प्रेम एक कुलवधू का अपने जीवन सर्वस्व के लिए प्रेम है। प्रेम के इस चित्र को अंकित करने में जायसी ने भारतीय नारी जीवन को बड़े स्वाभाविक रूप में दिखाया है। पदमावती और नागमती के नामों के वाच्यार्थ को लेकर कवि ने जहाँ तहाँ एक को मधुमयी तो दूसरी को विषैली बताया है और आध्यात्मिक अर्थ में भी पिछली को दुनियाँ-धंधा माना है, तो भी उसके प्रेम को जिस सहृदयता

काव्य जिसके लिए कोई भी साहित्य ईर्षा कर सकता है और जिसके कारण हिन्दी-साहित्य को गर्व है।

जहाँ जायसी ने इस कथा को अपनी मोहक कल्पनाओं से रंग कर मौलिक रूप दिया है, वहीं मधुर भावुकता के रस से सिक्त करके उसके साथ अपने हृदय की कोमलता को जोड़ दिया है। यह सब करके उन्होंने कवि के कार्य को पूरा किया है। उनकी काल्पनिक सृष्टि की पहली वस्तु है सिंघलद्वीप, जहाँ लोक-प्रचलित धारणा के अनुसार अनिंद्य सुन्दरी पद्मिनी स्त्रियाँ पाई जाती हैं। दूसरी है रत्नसेन की सिंघल-यात्रा जिसमें सागर-संतरण का कल्पनात्मक वर्णन प्रमुख है। रानी नागमती भी एक कल्पित पात्र है। इस कल्पना ने जायसी के काव्य को बहुत कुछ दिया है। कल्पना द्वारा सृजित यह पात्र उनकी भावुकता और अनुभूति-प्रदर्शन का सब से बड़ा आधार सिद्ध हुआ है। अन्य काल्पनिक पात्रों में शिवजी, हनुमान, लक्ष्मी तथा सागर आदि कुछ मानवेतर पात्र हैं। परन्तु सच्चे सृष्टा के रूप में वे तभी दिखाई पड़ते हैं जब वे अपनी इस काल्पनिक सृष्टि को इतिहास के साथ जोड़कर घटनाओं की सत्यता पर विश्वास करने को कहते हैं। कथानक का ऐतिहासिक अंश राघवचेतन के देश निकाले से प्रारंभ होता है। अलाउद्दीन की पद्मिनी के लिए चित्तौर पर चढ़ाई, चित्तौर का घेरा, रत्नसेन से उसकी भेंट, पद्मिनी-दर्शन, राजा की गिरफ्तारी और छुटकारा तथा युद्ध आदि घटनाएँ इतिहास सम्मत हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी कवि और सृष्टा दोनों के रूप में सफल हैं। कल्पना, भावुकता और इतिहास का इतना सुन्दर संमन्वय उन्होंने किया है कि चकित रह जाना पड़ता है। नाम सादृश्य का लाभ उठाकर लोक कथा को ऐतिहासिक कथानक बना कर पेश करने की सफलता हमारे कलाकारों में केवल जायसी को प्राप्त है। इसी प्रकार जीवन-व्यापी लौकिक प्रेम-कथा का संसार, जीव और परमात्मा के साथ सादृश्य संबंध दिखाकर एक महान अन्योक्ति-काव्य (Allegory) लिखनेवालों में वे शायद अपनी समता नहीं रखते।

रकत कै आँसु परहिं भुइँ टूटी। रेंगि चलीं जस बीर बहूटी।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसुंभी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। विरह झुलाइ देह झकझोरा।
जग जल-बूड़ जहाँ लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी॥

परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख।
किमि मै भेंटौं कन्त तुम्ह, ना मोहि पाँव, न पाँख॥

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी।
धनि सूखै भरे भादौं माहाँ। अबहु न आएन्हि सींचेन्हि नाहा।

इस विरह में कितनी करुणा है ; इस प्रेम में कितने आँसू हैं, इस आह्वान में कितनी कातरता है, कितनी विवशता है ! इसमें वासना की आँधी नहीं है। इसमें इन्द्रिय-विलास का बवंडर नहीं है। इसमें तरल-प्रेम की स्निग्ध ज्योत्सना है। नागमती के प्रेम का सागर इस में उमड़ रहा है। धूल में लोटता हुआ बालक जैसे स्वर्ग की सहानुभूति करा देता है वैसे ही नागमती का यह प्रेम सांसारिक होते हुए भी बाजा-रूपन से कही उच्च है। वह सच्चे अर्थों में प्रेम का प्रतीक है। वह परिचय और सहवास से उत्पन्न हुआ है, विरह और वियोग ने उसे स्थायी और व्यापक बनाया है। इसीलिए उसमें दूसरे के सुख-दुख को समझने समझाने की विश्वभावना का उदय हो गया है, जिसका वाक्य में एकाध स्थल पर संकेत मिलता है नागमती का प्रेम दाम्पत्य प्रेम का नमूना है जिसमें प्रेम पात्र के लिए सर्वस्व त्याग की भावना को भावना नहीं रहने दिया गया है, उसे चरितार्थ करके दिखाया गया है।

काव्य की नायिका पदमावती का रतनसेन के प्रति प्रेम बहुत दूर तक प्रेम के रूप में नहीं है। उसे एक नवयुवती की कामवासना का प्रतीक ही कहा जा सकता है। यौवन मद से मतवाली राजकुमारी में जो आँधी उठ रही है वह पुरुष की इच्छा के रूप में है, किसी विशिष्ट प्रणयी के लिए नहीं। हीरामन के आश्वासन का उसे ध्यान है पर किसी

जायसी का धर्म

जायसी मुसलमान थे। इस्लाम उनका धर्म था। अपने धर्म के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। पैग़म्बर मुहम्मद साहेब के प्रति उन्होंने पूर्ण श्रद्धा प्रकट की है और उन्हें परमात्मा की ज्योति से निर्मित बताया है—

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाम मुहम्मद पूनौ-करा॥
प्रथम ज्योति विधि ताकर साजी। औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी।
दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा। भा निरमलजग मारग चीन्हा।
जो न होत अस पुरुष उजारा। सूझि न परत पथ अँधियारा।
दूसर ठाँव दैव वै लिखे। भये धरमी जे पाढ़त सिखे।
जगत बसीठ दई ओहि कीन्हा। दुइ जग तरा नाँव जेहि लीन्हा।

'आखिरी कलाम' में बहिश्त, रसूल और फरिश्तों का जो वर्णन है यह सब इस्लाम मान्यता के अनुसार है। और भी जहाँ-तहाँ उन्होंने 'मुहम्मद लेवा' (मुहम्मद के मत) का वर्णन किया है। सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के वर्णन में भी वे इस्लाम के अनुसार चले हैं। यद्यपि उन्होंने संसार के दूसरे धर्मों को ईश्वरीय मार्ग मानने की उदारता दिखाई है—

विधिना के मारग हैं जेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते॥

परन्तु एक कट्टर मुसलमान की भाँति उन सब मार्गों में श्रेष्ठ इस्लाम को ही बताया है। उसमें दीक्षित होने को उन्होंने कैलाश अर्थात् स्वर्ग की उपलब्धि कहा है—

तिन्ह महँ पन्थ कहौं भल गाई। जेहि दूनौं जग छाज बड़ाई।
सो बड़ पन्थ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥

यह सब कुछ होते हुए भी जायसी सूफी सन्त थे। उनके लिए इस्लाम की निराकारोपासना के स्थान पर सकारोपासना को प्रधानता देना मुख्य था। ईश्वर को सौंदर्यमय, प्रेममय मानना तथा उस सौंदर्य

नारी। जन्मजन्मान्तर के लिए स्वामी के चरणों में समर्पित। उसके लिए तो इसके सिवा कोई दूसरा मार्ग ही न था कि वह झरोखे में दिन रात बैठी-बैठी पथ हेरा करती, बिरह में झुरती और आँसुओं में बहती। ऐसी दशा में विरह का एक-एक पल पहाड़ होकर आता और एक-एक दिन युग बन जाता। रानी नागमती के ऊपर उन बारह महीनों का बोझ बारह मन्वन्तरों का बोझ है। उसे जायसी जैसा सहृदय कवि नजर अन्दाज कैसे कर सकता था। इसीलिए बारहमासे के रूप में कवि ने रानी की वियोग दशा को दिखाया है। प्रत्येक ऋतु-परीवर्तन का उस अबला पर क्या प्रभाव पड़ता है उसे चित्रित किया है। जो सुख के साधन थे वे दुख का घर बन गये हैं। जो शीतल प्रतीत होते थे वे दाहक हो गये हैं। उस बेचारी पर स्वामी का ही अत्याचार नहीं है सारी सृष्टि का है। प्रकृति का एक एक दृश्य, समय का एक एक क्षण और वसुधा का एक एक पदार्थ आज उसे सताने की तैयारी में लगा है। एक वह दिन भी था जब ये ही सब आनन्द विधायक थे। इनके साथ उस सौभाग्यकाल की कितनी स्मृतियाँ संलग्न हैं? वे सुनहरी रेशमी संस्मृतियाँ आज उसे और भी अधिक रुला रही है। उनकी एक एक झलक हृदय को कचोट लेती है। जायसी यदि विरहिणी की स्वाभाविक दशा का चित्रण न करते तो आज उन्हें कौन पूछता? ऐसा होने से 'पदमावत' साधारण काव्यों का अल्प जीवन पाकर काल के गाल में कभी का समा गया होता।

इसीलिए जायसी के प्रशंसक स्व० श्रीशुक्लजी ने उनके विरह वर्णन के सम्बन्ध में कहा है कि "नागमती का विरह वर्णन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात-रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु-पक्षी, पेड़-पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्यदशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगने लगते हैं, और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुःख सुनाने से भी जी हलका होगा। सब जीवों का शिरो-

और प्रेम की सत्ता पर निछावर होना आवश्यक था। धार्मिक विधि-निषेध को उस कड़ाई से वे नहीं मानते थे, जिसका विधान धर्मशास्त्रों में क्रिया गया था। साधु-संतों और फकीरों के सत्संग को वे छोड़ नहीं सकते थे। नाना मतों और धार्मिक संस्कारों का प्रभाव उनके ऊपर पड़ा था, और पड़ता था। जिसके फल-स्वरूप उनकी दृष्टि तत्वदर्शी हो गई थी। वे हर एक मत के सार-तत्व को ग्रहण कर लेते थे। अपने धर्म के प्रति श्रद्धा-वान रह कर भी वे उदार हृदय और सार्वदेशिक विचार रखते थे। दूसरों की मान्यताओं को सहानुभूति की दृष्टि से देख सकते थे। इसीलिए मुसलमान फकीरों की एक प्रसिद्ध गद्दी की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी उन्होंने भेदभाव को अपने जीवन में स्थान नहीं दिया था। पद्मावत काव्य की जिस सहृदयता से उन्होंने रचना की है, उससे उनकी उदारता का पता चलता है। क्या भाषा और क्या कथा-विन्यास किसी में भी उन्होंने जातीय अथवा धार्मिक कट्टरता को आने नहीं दिया है। उन्होंने जो कथानक अपने काव्य के लिए चुना है उसमें जातीय या धार्मिक कट्टरता रखने वाले के लिए हिन्दू-मुस्लिम तत्वों का निर्वाह कर ले जाना साधारण बात न थी; पर जायसी की व्यक्तिगत साधना इतनी ऊँची हो चुकी थी जहाँ इस प्रकार की मनोवृत्ति को स्थान न था। वे सुसंस्कृत होने से मनुष्यता के पुजारी बन गये थे। उनकी सहिष्णुता का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया था। उनका धर्म लोक-धर्म तक पहुँच चुका था।

जायसी का रहस्य-वाद

इस्लाम के संसर्ग से भारतवर्ष में जिस रहस्यवाद का विकास हुआ उसमें भारतीय वेदान्त और फारस के सूफी दृष्टिकोण का मिश्रण पाया जाता है। एक लोकपक्षी है, दूसरा स्वपक्षी। व्यक्तिगत साधना से अनुभूत स्वपक्षी रहस्यवाद सूफियों में खूब विकसित हुआ। निर्गुण धारा के सन्त साधकों पर इसका व्यापक प्रभाव है। लोक-चिन्ता से मुक्त आत्मसंस्कार द्वारा उस परोक्ष सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की प्रतीति

कर सकता है। इस प्रकार 'पद्मावत' एक दुःखान्त काव्य है—दुःखान्त के अलावा वह और कुछ नहीं हो सकता।

किन्तु एक दूसरा दृष्ठिकोण भी है और वह है आध्यात्मिक। संसार माया रूप है, और असत् है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है और उसी में उसका अवसान सायुज्य मोक्ष है। जब जायसी स्वयं कहते हैं कि 'मेरा यह काव्य सांसारिक दृष्टि से काव्य जरूर है पर इसका एक उद्दिष्ट संकेत भी है।' वह उद्दिष्ट संकेत आध्यात्मिक अर्थ में उसका समाहार करता है। तब पदमावती और नागमती का रतनसेन के शव के साथ जल जाना ही वास्तविक मिलन है। वह मिलन नित्य और शाश्वत हैं। शैतान की दुनियाँ से बाहर है। ईर्षा और द्वेष की भूमि से वह प्रेम का स्वर्ग बहुत ऊँचाई पर है, जहाँ इस जगत् का धुंवा भी शुभ्र और स्वच्छ होकर ही प्रवेश पाता है। जो पाठक काव्य के इस संकेतार्थ को हृदयंगम करने की योग्यता रखता है, उसी दृष्टि में 'पदमावत' एक सुखान्त काव्य ही है।

पद्मावत एक अन्योक्ति काव्य

अंत में जैसा जायसी ने स्वयं कहा है कि मैंने इस कथा का पंडितों से अर्थ पूछा, तो उन्होंने बताया कि हमें तो इसके अलावा और कुछ समझ नहीं पड़ता कि यह मनुष्य शरीर ही ब्रह्माण्ड है। इसी में तीन लोक चौदह भुवन की सृष्टि बसती है। इसी में भौतिक और आध्यात्मिक द्वन्द चलता रहता है। इस दृष्टि से 'पदमावत' की कथा पर विचार करने से वह सांसारिक प्रेम कहानी का आध्यात्मिक अर्थ में आरोप समझ पड़ती है। उस दशा में चित्तौर का शरीर में, रतनसेन का मन में, सिंहल का हृदय धाम में, पदमावती का बोध (चिद् रूप ब्रह्म) में, हीरामन का गुरु में आरोप करना पड़ेगा। यह आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वाले पंडितों का दृष्टि कोण है। जायसी स्वयं एक साधक थे, अतः उनका पंडितों और साधकों से संसर्ग होना

उन्होंने की है, और उसे नाना रूपकों के मिस व्यक्त किया है। उनकी अनुभूति बड़ी गहरी है और उनके प्रेम की बेकली बड़ी तीव्र है, किन्तु लोक-वाह्य होने से वह ऐकान्तिक है। जायसी साधक के साथ-साथ एक भावुक कवि का हृदय रखते थे। उनकी अनुभूति व्यापक और विश्व-जनीन है, इसीलिए उनके रहस्यवाद को स्वर्गीय शुक्लजी ने 'अद्वैती रहस्यवाद' नाम दिया है, और कहा है, कि "वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूपमाधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृङ्गार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना 'पद्मावत' में अधिक मिलती है।

जायसी कवि थे और भारतवर्ष के कवि थे। भारतीय पद्धति के कवियों की दृष्टि फ़ारस वालों की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापरों पर कहीं अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपों को कहीं अधिक परखने वाली होती है। इससे उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्यसंकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। कबीर (आदि) में चित्रों की न वह अनेकरूपता है, न वह मधुरता। देखिये, उस परोक्ष ज्योति और सौंदर्य सत्ता की ओर कैसी लौकिक दीप्ति और सौंदर्य के द्वारा जायसी संकेत करते हैं—

बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि, ससि, नखत दियहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ तहँ विहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग-हीर।"

बन जाता है। जायसी दार्शनिक अभिरुचि रखने वाले संत कवि थे, पर थे वे कवि इसमें किसी को दो मत नहीं हो सकते। इसीलिए काव्य-रचना में जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिल गया है, वहाँ उसका दार्शनिक दृष्टि से विचार किये बिना वे नहीं माने हैं।

पद्मावती के रूप वर्णन में वे स्वर्गीय ज्योति का वर्णन करते हैं—

प्रथम सो जोति गगन निरभई।
पुनि सो पिता माथे मनि भई॥
पुनि वह जोति मातु घट आई।
तेहि ओदर आदर बहु पाई॥

रतनसेन पद्मावती को देखकर मूर्च्छित हो गया था। मूर्च्छा जाने पर वह अनुभव करता है—

आवत जग बालक अस रोवा।
उठा रोइ हा, ग्यान सो खोवा॥
हौं तौ अहा अमरपुर जहाँ।
यहाँ मरनपुर आएउ कहाँ?

बाद में वह एक स्थान पर पद्मावती के प्रेम की व्यापकता को इन शब्दों में याद करता है—

परगट गुपुत सकल महँ, पूरि रहा जहँ नाँव।
जहँ देखौं तहँ ओही, दूसर नहिं जहँ नाँव॥

जब रतनसेन ने हीरामन के मुख से पद्मावती का रूप वर्णन सुना तो अपने को उसका प्रेमी घोषित करने लगा। हीरामन ने उसे इन शब्दों में समझाया—

साधन सिद्धि न पाइय, जौ लगि सधै न तप्प।
सो पै जावै बापुरा, करै जो सीस कलप्प॥
का भा जोग कथन के कथे। निकसै घिउ न बिना दधि मथे॥
जौ लहि आप हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई॥

रहस्यवाद के सम्बन्ध में जायसी भारत और फ़ारस दोनों की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे केवल अन्तस् में ही उस छवि का दर्शन नहीं करते, वरन् बाह्य जगत् के कणकण को भी उसी शोभा से शोभायमान हैं। पाते यह लोक और संसार भी उसी प्रियतम की ज्योति से उद्भासित है, इस अनुभूति को अपने हृदय में लिए फिरने के कारण ही वे लोक-पक्ष में भी सहृदय ठहरते हैं। बाहर और भीतर ऐसा कौन-सा प्रदेश है जो उसकी ज्योति से जगमग नहीं करता। मानस के भीतर जब उसकी किरण फूटती है तब क्या दशा होती है इसका संकेत वे इन पंक्तियों में देते हैं—

देखि मानसर रूप सोहावा।
हिय हुलास पुरइनि होइ छावा॥
गा अँधियार रैनि-मसि छूटी।
भा भिनुसार किरन-रवि फूटी॥
कँवल विगस तस विहँसी देही।
भँवर दसन होइ कै रस लेही॥

उसी प्रकार उसके प्रेम से दृश्य जगत् का कण-कण बिधा है। जहाँ देखिये उसी की प्रेम-पीड़ा से कराह रहे हैं। उसने सबको छेद डाला है। क्या धरती, क्या आकाश, क्या सूर्य क्या चन्द्र सभी तो उसके रूप की बंसी में उलझे हैं, देखिये—

उन्ह बानन अस को जो न मारा?
बेधि रहा सगरो संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान वेधि सब राखी।
साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े।
सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥

जहाँ न राति न दिवस है, जहाँ न पौन न पानि।
तेहि बन सुअटा चलि बसा, कौन मिलावै आनि॥

इसी भाँति सुलतान द्वारा रतनसेन के दिल्ली ले जाये जाने पर कवि दिल्ली को ऐसा अगम देश बताता जहाँ से गया हुआ कोई वापस नहीं आता—

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोई न बहुरा कहै सँदेसू॥
जो गँवनै सो तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिउ जहाँ सिधावा। जो रे गएउ सो बहुरि न आवा॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक-कथा को काव्य का रूप देते समय कवि अपनी विचारधारा को तटस्थ नहीं रख सका है। वह उसकी रचना में दूध-पानी की भाँति मिल गई है। अतः पदमावत में हम एक लौकिक प्रेम-कथा का आनन्द उठाते हैं, जहाँ उसमें काव्यरस पाते हैं, वहीं प्रणेता की जीवन-व्यापी साधना की सुगन्धि भी पाते हैं। उसमें अध्यात्म-चिंतन का एक अंतश्रोत बराबर बह रहा है। कहीं-कहीं वह धरातल के ऊपर भी अपनी झलक दिखा जाता है। यही कारण है कि पंढितों का ध्यान इधर गया। 'पदमावत' कोरे कवि की रचना नहीं है यह बताने के लिए ही उन्होंने उपरोक्त राय दी प्रतीत होती है। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि काव्य को एक पहेली मान लिया जाय तथा उसके अंग-प्रत्यंग को आध्यात्मिक रूपक में घटाया जाय, एवं उसके पात्रों की कढाई के साथ आध्यात्मिक अर्थ में संगति बैठाई जाय। काव्य के अन्त में पंडितों की सम्मति रूप जो संकेत है, उसे संकेत रूप से ही ग्रहण करना समीचीन है। पत्थर की लीक मान कर यदि काव्य का परीक्षण करेंगे तो बड़थ्वालजी के इन शब्दों को दुहराना पड़ेगा—"अन्योक्ति का सूत्र कहानी के एक से दूसरे सिरे तक बेधता नहीं चला गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों पक्ष कहानी में सर्वत्र एक रस नहीं दिखाई देते।··· आध्यात्मिक और लौकिक, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, इन दोनों में समत्व

बरुनि चाप अस ओपहँ, बेधे रन बन-ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख ॥

सृष्टि-व्यापारों को अन्य उद्देश्य से देखने की छुट्टी जायसी ऐसे साधक को कहाँ थी ? वे तो परमात्म-सत्ता के सम्बन्ध से ही सब को देखते थे । उसी के संयोग-वियोग और हर्ष-विमर्ष से पृथ्वी और स्वर्ग की जीवनचर्या का निर्माण होता है। बादल उसी के अनुराग से रँगे हैं। सूर्य उसी के वियोग से उत्तप्त है। वसंत और वनस्पति उसी के रंग से रंगीन हैं, इस भेद को समझने वाले जायसी रहस्यवादी कवियों और भावुकों में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उनकी रहस्यात्मक अनुभूति बड़ी गहरी है। वह भावुकता का चरण रूप प्रस्तुत करती है—

सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता।
औ मजीठ टेसू बन राता ॥
भा बसंत, रातीं बनसपती।
औ राते सब जोगी जती ॥
भूमि जो भीजि भयेउ सब गेरू।
औ राते सब पंखि पखेरू ॥
राती सती अगिनि सब काया।
गगन मेघ राते तेहि छाया ॥

सूफी रहस्यवादियों की इस परम्परा का प्रभाव माधुर्य भाव के उपासक कृष्ण भक्तों पर पड़ा। वैष्णव कवियों और भक्तों में यह अनुभूति स्पष्ट झलकती है। भारतीय भक्त परम्परा एवं हिन्दी साहित्य की प्रेम-मार्गी शाखा के सूफी कवियों की यह देन बड़ी महत्वपूर्ण है, और जायसी का उसमें प्रमुख भाग है। आगे चल कर इसी से भावात्मक और गीतात्मक साहित्य का स्रोत फूट पड़ा है।

है। इनमें सर्व प्रथम मृगावती के रचयिता कुतुबन का नाम आता है। उसके बाद 'मधुमालती' के कवि मंझन उल्लेख्य हैं। तीसरे प्रमुख कवि स्वयं जायसी हैं। इनके बाद 'चित्रावली' के प्रणेता उसमान तथा 'इन्द्रावती' के रचयिता नूर मुहम्मद हैं। नूर मुहम्मद तक पहुँचते पहुँचते हिन्दी से मुसलमानों का रुख फिरता हुआ देखते हैं। इससे पहले इस प्रकार का कोई भाव न था। खैर, इस प्रेम-काव्य परंपरा में जायसी बीच की शृङ्खला है। इन तक आते-आते उत्कर्ष अपनी चरमता को पहुँच जाता है। उसके बाद अपकर्ष काल का आरंभ हो जाता है। किन्तु संपूर्ण धारा में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो हस्तान्तरित होने पर भी सुरक्षित रही हैं। इन कवियों में सभी सूफी मुसलमान थे। उनका धार्मिक विश्वास अहले इस्लाम पर था, तो भी उन्होंने भारतीय जीवन में अपने आदर्श की खोज की। कथानक प्रायः सब हिन्दू लिए या कल्पित किये। सबने थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ दोहे चौपाइयों की छंद-योजना स्वीकार की। सब से बड़ी बात काव्य के नायक की एक स्त्री और एक प्रेमिका इस प्रकार दो स्त्रियाँ होना है। हम पहले एक स्थान पर लिख चुके हैं कि यह भारतीय आदर्श नहीं हो सकता। यह इस्लामी शरियत से अनुमोदित तथा उसी के जीवन से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। इस कल्पना को परंपरा का रूप देने में संभव है इन कवियों को प्रेम की अतिशयता, अनन्यता, गंभीरता तथा एकरसता दिखाना इष्ट रहा हो। इनके कथानकों का ढाँचा भी पूर्णतया मौलिक नहीं है, वह भी परंपरा संबद्ध है। स्वयं जायसी जैसे महाकवि के काव्य का कथानक उनके पूर्ववर्ती कुतुबन और मंझन के 'मृगावती' तथा 'मधुमालती' से थोड़ा बहुत मिल जाता है। केवल मिल ही नहीं जाता है, बल्कि यह मानने के लिए विवश करता है कि पदमावत की कथा के अंगों का विकास कहाँ से हुआ है।

मृगावती की कहानी का सारांश यह है,—चंद्रगिरि के राजा गनपतिदेव का बेटा कंचननगर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती

जायसी की भावुकता

'पदमावत' की कथा का बीज नरपति नाल्ह कृत 'बीसल देव रासो' से लेकर उसे लोक प्रचलित कथा और इतिहास के साथ गूँथ दिया गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। उक्त रासो में भी चित्तौड़ नरेश का अपनी रानी को छोड़कर निकल जाना एवं रानी का विरह आदि वर्णित है। जो भी हो, कथावस्तु को अपने अनुकूल गढ़ने में जायसी का उद्देश्य एक कवि का ही उद्देश्य रहा है। उन्होंने यही प्रयास किया है कि किस प्रकार अपने हृदय के अन्दर घुमड़ रही भावनाओं को लोगों तक पहुँचाया जाय। काव्य के मार्मिक स्थलों की परख करने में उन्हें कठिनाई पड़ी हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। बड़ी सीधी सादी रीति से उन्होंने कथानक को उठाया है और वैसी ही सरलता के साथ उसका निर्वाह किया है। उनकी इस सरल और सीधी शैली में यही विशेषता है कि भावुकता-प्रदर्शन का अवसर पाते ही उनके भीतर का कवि प्रकट हो जाता है। साधारण से साधारण वर्णन को भावुकता से अभिषिक्त करके रोचक और हृदयग्राही बनाने की जायसी में अपूर्व क्षमता है। जैसे सिंघलगढ़ की घड़ी का घंटा बजने का वर्णन आप इस प्रकार करते हैं—

जबहीं घरी पूजि तेहि मारा । घरी घरी घरियार पुकारा ॥
परा जो डाँड जगत सब डाँडा । का निचित माटी कर भाँडा ?
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ काँचे । आरहु रहे न थिर होइ बाँचे ॥
घरी जो भरी घटी तुम आऊ । का निचित होइ सोउ बटाऊ ?

मुहमद जीवन जल भरन, रहँट घरी कै रीति ।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी, जनम गा बीति ॥

घंटा बजते और समय को प्रतीत होते हुए सभी देखते हैं पर जायसी का देखना कितना दार्शनिक और भावुकतापूर्ण है। एक मनीषी कवि का पर्यवेक्षण जायसी की दृष्टि में हमें सर्वत्र मिलता है।

मिलन के बाद शीघ्र ही विछोह हो जाता है और एक बार फिर राजकुमार को मधुमालती के वियोग में योगी बनकर घूमना पड़ता है। अंत में बड़ी कठिन और विचित्र घटनाओं के उपरान्त उनका पुनः मिलन होता है।

इस कथा में भारतीय आदर्श की छाप है। एक बार प्रेमा मनोहर को भाई कहकर उसके साथ विवाह करने से इनकार करती है। उसी भाँति आगे कथा में एक दूसरे राजकुमार ताराचंद का नाम आता है जो मधुमालती को बहन कहकर उसे उपभोग्य नहीं मानता। शेष जितनी कथायें इस परंपरा में हैं, उनमें यह बात नहीं मिलती।

इस परंपरा के परवर्ती प्रेमाख्यानों में भी लगभग इसी प्रकार का कथा-विन्यास है। मालूम पड़ता है इन कथाकारों का उद्देश्य कथानक को मौलिक बनाना उतना नहीं था जितना प्रेम की पीड़ा को प्रदर्शित करना और उसके द्वारा जीव और परमात्मा के प्रेम-संबंध की ओर संकेत करना। अप्रस्तुत की व्यंजना ही उनका प्रधान लक्ष्य होने से प्रस्तुत की विशेष चिन्ता उनसे नहीं बन पड़ी है। इन समस्त संतों में जायसी सब से अधिक प्रतिभाशाली, मर्मज्ञ और सहृदय थे अतः उन्होंने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का बड़ा सुन्दर विधान और बहुत उपयुक्त समाहार किया है। वे इस काव्य धारा के मध्याह्न सूर्य थे। अपने प्रकाश से वे दिवस के हृदय को तो आलोकित कर ही गये, आने वाली संध्या की झोली में भी कंचन की अनमोल भेंट डाल गये।

अलंकार-योजना

काव्य के लिए अलंकार अनिवार्य नहीं हैं परन्तु जो कवि है उसका आलंकारिक होना अनिवार्य है। सच्चा कवि बात को किसी न किसी सुन्दर ढंग से ही कहेगा। बात कहने की वह चमत्कारपूर्ण शैली ही तो अलंकार है। कवि होने के नाते जायसी को भी अलंकार योजना में प्रवृत्त होना पड़ा है—ज्ञात और अज्ञात रूप से। ज्ञात रूप से कहने

यत्र तत्र प्रकृति का ऐसा सुन्दर और संश्लिष्ट वर्णन जायसी ने किया है जो पाठक के हृदय को रस मग्न कर देता है। नागमती के विरह की बारहमासी लिखने में जायसी ने सारी सृष्टि को रुला डाला है। मानव हृदय के साथ प्रकृति की कितनी सहानुभूति है। यह सजीव करके दिखा दी है। नागमती के दुख से सारी दुनियाँ दुखी हो गई है, अन्त में एक पक्षी से न रहा गया। उसने आकर रानी से पूछा—

तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी।
कोई दुख रैनि न लावसि आँखी?

रोकर रानी नागमती ने उत्तर दिया—

नागमती कारन कै रोई। का सोवै जो कंत-बिछोई।
मनचित हुँते न उतरै मोरे। नैन का जल चुकि रहा न मोरे।
जोगी होइ निसरा सो नाहू। × × × × × ×
जहँवाँ कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भई झूरि वियोगी।
वै सिंगी पूरी गुरु भेंटा। हौं भइ भसम, न आइ समेटा।

हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भई सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति?

जायसी के भाव जगत में सारी सृष्टि सहानुभूतिमय है। जब एक एक अणु और परमाणु में वे एक ही ज्योति के दर्शन करते हैं तो एक ही आत्मा का विस्तार सर्वत्र देखें इसमें आश्चर्य ही क्या है। 'मेघदूत' के यक्ष का संदेशा कालिदास ने मेघ के द्वारा भिजवाकर अपनी भावुकता का ही परिचय दिया था। यह भावुकता ही कवियों के काव्य का प्राण है। 'उत्तर रामचरित्र' में भवभूति के भावुक हृदय की शीतल छाया में ही पाठक को विश्राम मिलता है। अपने 'पद्मावत' में जायसी ने भी जगह जगह भावुकता की अमराइयाँ लगाई हैं। उनकी छाँह में जो शांति हृदय को मिलती है, जो प्रेरणा प्राणों को प्राप्त होती है, काव्य का पारायण किये बिना उसका ठीक अनुभव नहीं हो सकता।

अज्ञातरूप से अलंकार योजना में प्रवृत्ति उनमें हम वहाँ कहेंगे जहाँ कवि परंपरा के अनुसरण का ध्यान उन्हें नहीं है। जहाँ झूठे उपमानों को बटोरने में वे नहीं लगे हैं और भाव-व्यंजना की ओर ही उनकी प्रवृत्ति है परन्तु तो भी जहाँ शैली की स्वाभाविकता में ही अलंकारों का समावेश हो गया है। ऐसे स्थलों पर अलौकिक चमत्कार के साथ रमणीय भाव-व्यंजना सोने में सुहागे का काम दे गई है। उनमें भावार्थ का प्रसार बहुत व्यापक और प्रभावकारी हो गया है—जैसे :—

मिलिहहिं बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहन्त।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहन्त॥

कहना नहीं होगा कि जायसी में अपने भावों में डूब जाने की अद्भुत प्रवृत्ति है, इसलिए इस प्रकार के भावयोग का उनमें प्राचुर्य है। उससे अभिषिक्त उनकी अलंकार योजना बड़ी प्रभावक और मीठी है। काव्य में प्रायः सर्वत्र ही उसकी झलक पाठक को मिल जाती है।

यों तो जायसी में अनेक अलंकारों का विधान है पर कुछ ऐसे भी हैं जिनमें उनकी चित्तवृत्ति अधिक रमती है, जैसे उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति। तुलसी को उपमा का और सूर को रूपक का कवि कहें तो जायसी को उत्प्रेक्षा का कवि कहने में कोई दोष न होगा। सचमुच ही अपनी उत्प्रेक्षाओं की हेतु-कल्पना में जायसी ने दृश्य और अदृश्य जगत में से किसी को छोड़ा नहीं है। उनका 'पद्मावत' स्वयं ही प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति का एक सुन्दर प्रयास है। एक बात और है, अलंकार योजना में जायसी की सादृश्य मूलक अलंकारों की ओर जितनी रुचि है उतनी असादृश्य मूलक अलंकारों की ओर नहीं। कहीं-कहीं इनकी अलंकार-योजना अप्रसिद्ध उपमानों के कारण दुर्बोध भी हो गई है, परन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

जायसी का दृश्य-चित्रण

दृश्य-चित्रण की क्षमता जायसी में खूब है। यों तो इस विषय में उन्होंने भाषा-कवियों की परंपरा का ही अनुसरण किया है, प्रकृति के साथ हम सर्वत्र उन्हें एक-प्राण हुआ नहीं पाते। वस्तु परिगणन की शैली ही उनमें मुख्य है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार दृश्यों का मनोहर और हृदयहारी चित्रण मिलता है, वैसा जायसी में नहीं है। आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण में वनवासी कवि-हृदय का परिचय दिया है। उनके जीवन में नदी, नाले, बादल, पर्वत, वन और पशु पक्षियों का क्या स्थान रहा होगा यह उनके वर्णनों से ज्ञात होता है। महाकवि कालिदास और भवभूति में भी आश्रमों और वन-पर्वतों का वैसा ही नैसर्गिक वर्णन है, परन्तु बाद के भाषा कवियों को प्राकृतिक दृश्यों का वह साहचर्य नहीं रह गया। फलतः उनका दृश्य-चित्रण भी हृदय के रस से अभिषिक्त नहीं हो सका है। इसके लिए हम जायसी को दोष नहीं दे सकते। परन्तु एक बात है, अपने दृश्य-चित्रों को भावपूर्ण बनाने में जायसी किसी प्रकार प्रयत्न अवश्य किया है, और अन्य कवियों के मुकाबले में वे सफल भी हुए हैं। जायसी में सबसे बड़ी विशेषता है उनकी पारमार्थिक दृष्टि। यह दृष्टि उनमें सदा जगती रहती है। वे जब किसी अद्भुत या रमणीय दृश्य की ओर आकर्षित होते हैं और उसका वर्णन करने लगते हैं तो उसकी अद्भुतता और रमणीयता का कोई न कोई आध्यात्मिक हेतु उन्हें मिल जाता है। उस हेतु की कल्पना करके वे उस पर अपनी शैली की छाप उसी प्रकार लगा देते हैं जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास। गोस्वामी जी की दृष्टि लोक-संग्रही है अतः उनके वर्णन (शरद् और वर्षा वर्णन) अपने ढंग के हैं। उन्हें दादुर-ध्वनि में वेदपाठी ब्रह्मचारियों की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अगस्त्य के उदय होने और मार्गों के जल सूखने में संतोष की प्राप्ति और लोभ की हानि दिखती है, इत्यादि। लोक-कल्याण के भाव में मग्न रहने के कारण गोस्वामी जी को वैसी ही बातें सूझती हैं। जायसी में आत्म

परन्तु भाषा के ठेठ रूप पर ही मुख्यतः आश्रित रहने के कारण उनका वाक्य-विन्यास सुसंबद्ध और स्वच्छ नहीं है। उसमें जहाँ-तहाँ शिथिलता और दोष रह गये हैं। जायसी को देश-देशान्तर की भाषाओं और बोलियों का भी परिचय प्रतीत होता है। वह उनके भ्रमणशील होने का परिचायक है। इनका असर भी उनकी वाणी पर पड़ा है। जायसी संस्कृत साहित्य के पण्डित नहीं थे परन्तु भाषा साहित्य का भण्डार उनका देखा भाला था। इसीलिए जहाँ उनमें प्रान्तीय प्रयोग मिलते हैं वहीं प्राचीन रूप भी मिल जाते हैं। इसलिए कभी-कभी भाषा की एकरूपता नष्ट होती प्रतीत होती है, और उसमें एक प्रकार की अव्यवस्था भी दीखती है। यह सब हुआ है उनमें भाषा-सम्बन्धी परिमार्जित रुचि के अभाव के कारण।

प्रत्येक भाषा और बोली में चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ, मुहाविरे और कहावतें प्रयोग में आये बिना नहीं रहते। जहाँ वे एक ओर भाषा के सौष्ठव में योग देते हैं वहीं थोड़े में बहुत अर्थ की उन्नति कराते हैं। वाक्चातुर्य और वाक्विदग्धता के प्रदर्शन के लिए कवि लोग इनका उपयोग करते हैं। जायसी में इनका प्रयोग तो मिलता है पर ऐसा मालूम पड़ता है कि भाषा के स्वाभाविक-विस्तार में अनायास उनका प्रयोग हो गया है। कवि ने जानबूझ कर केवल भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उन्हें नहीं दिया है। जायसी के ऐसे अधिकांश प्रयोगों में उनकी रसात्मकता और भावुकता का ही अधिक परिचय मिलता है। ऐसे स्थलों पर उनका वाक्छल प्रायः गौण रह जाता है और रसज्ञता एवं भावज्ञता प्रस्तुत हो उठती है। इसीलिए हमें कहना पड़ता है कि जायसी जितने भावों में डूबे हुए थे उतने भाषा में सतर्क नहीं थे। इसी से उनकी भाषा चमत्कारपूर्ण जितनी नहीं है उतनी रसवन्ती है। देखिये—

(१) 'मुहम्मद' जीवन जल भरन, रहँट घरी कै रीति।
घरी जो आइ ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥

कल्याण की दृष्टि विशेष होने से वे इस प्रकार वर्णन करते हैं। सिंघल द्वीप की अमराई का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

घन अमराउ लाग चहुँपासा। उठा भूमि हुँत लागि अकासा॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भई जग छाँह रैनि होइ आई॥
मलय समीर सोहावनि छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि माँहा॥
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै॥
जेइ छाई वह छाँह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा॥

जायसी की अमराई पथिक को उस परम शांतिका भान करा देती है जिसको पाकर भव-तापों से शांति का अनुभव होने लगता है—इस प्रकार इन महाकवियों ने परंपरा-मुक्त वर्णनों में भी नवीनता और मौलिकता की सृष्टि कर दी है।

'पद्मावत' एक बृहत्काय काव्य है। उसमें स्थल की कमी नहीं है। इसका लाभ उठाकर जायसी ने अनेक ऐसे दृश्यों का वर्णन किया है जो या तो लोकजीवन में महत्व रखते हैं या काव्य-सौंदर्य को बढ़ाने वाले हैं। जैसे पनघट का वर्णन, जलकेलि का वर्णन, प्रतिमा पूजन का वर्णन, वसन्त का वर्णन, विवाह का वर्णन, ज्योंनार वर्णन, युद्ध वर्णन आदि आदि। जब रत्नसेन सिंघल यात्रा के लिए नौकारोहण करता है तो मार्ग के सात समुद्रों का वर्णन भी जायसी ने किया है। सागर वर्णन का बड़ा सजीव और स्वाभाविक हुआ है, जैसे—

भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा।
उठै लहरि पर्वत कै नाई। फिरि आवै जोजन सौ ताई॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। माथे रंभ समुद जस होई॥
फिरत समुद जोजन सौ ताका। जैसे भँवै कोहाँर क चाका॥
भै परलै नियराना जबहीं। मरै जो जब परलै तेहि तबहीं॥

उपसंहार

प्रेम-मार्गी सूफी कवियों ने विश्व-साहित्य को बहुत कुछ दिया है। जीवन की साधना और आराधना से ऊपर अध्यात्म प्रेम की पीड़ा से जिनका हृदय व्याकुल हो उठता है वे सजीव और प्राणमय उद्गार संसार को दे जाते हैं, उनसे जीवन-मरुस्थल चिरकाल तक हरा-भरा रहता है। इस्लामी सभ्यता के रक्त-रंजित इतिहास में सूफीमत एक ऐसा ही है, जिसने अध्यात्म प्रेम की मानिक मदिरा से अपने होठों को लाल किया था और उसके मद में मतवाला बनकर एक अपूर्व संगीत कानों में डाल दिया था।

अरब और फारस से भारत का संबंध होने पर यह कब संभव था कि भारत के पल्ले में सिर्फ विष ही विष पड़ता और इस्लाम के लिए अमृत रह जाता। महमूद गजनवी के साथ सूफी संतों का समागम भी अवश्यम्भावी था। तलवार, रक्तपात एवं धार्मिक विध्वंस के साथ प्रेम और मस्ती के तराने भी यहाँ आने से रुक नहीं सकते थे, न रुके ही। राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में अरब और भारत गले नहीं मिल सके पर प्रेम और साहित्य क्षेत्र में वे आलिंगन-पाश में बँध गये। सूफी मतावलंबी जायसी में हम हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक कंठ से गाते हुए पाते हैं। उनमें कितना अंश हिन्दू है, कितना मुसलमान, इसका विश्लेषण करने चलें तो उसमें दोनों का सौंदर्य नष्ट हो जायगा। जायसी को जिन्होंने पढ़ा है वे देख चुके होंगे कि वे सर्वथा भारतीय सूफी बन चुके थे। फ़ारसी सूफी होकर वे कभी 'पद्मावत' की रचना न करते। उन जैसे प्रतिभाशाली के लिए कथानकों की क्या कमी थी? भाषा और छन्द की ऐसी बड़ी बाधा न थी जिसे वे पार न कर सकते पर उनके सामने वह संकुचित दृष्टि न थी। वे भारतवर्ष में पाकिस्तान की कल्पना करने वाली दुनियाँ में न बसते थे। उन्होंने अपने स्वाभाविक रूप में अपने प्राणों का संगीत गाया है। उनके संगीत में उनके हृदय

गै औसान सबन्ह कर, देखि समुद कै बाढ़ि ।
निपर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि ॥

इसके अतिरिक्त खारसमुद्र, खीरसमुद्र, दधिसमुद्र, उदधिसमुद्र, सुरासमुद्र तथा मानसरसमुद्रों का वर्णन है । इनके वर्णन में कवि परंपरा का अनुसरण हुआ है, परन्तु जायसी की उसी विशेषता के साथ जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । जैसे चीरसमुद्र का वर्णन करते हुए कवि वहाँ की माया का वर्णन करके कहता है कि इस माया के प्रति स्वाभाविक आकर्षण जो हृदय में होता है उसे संवरण करना ही पथिक (साधक) के लिए श्रेय है, इत्यादि जैसे—

खीर-समुद का बरनौं नीरू । सेत सरूप, पियत जस खीरू ॥
उलथहिं मानिक मोती हीरा । दरब देखि मन होइ न धीरा ॥
मनुआँ चाह दरब औ भोगू । पंथ भुलाइ विनासै जोगू ॥
जोगी होइ मनै सो सँभारै । दरब हाथ कर समुद्र पवारै ॥
दरब लेइ सोई जो राजा । जो जोगी तेहि के केहि काजा ।
पंथिहि पंथ दरब रिपु होई । ठग, बटमार, चोर सँग सोई ॥
पंथी सो जो दरब सौं रूसे । दरब समेटि बहुत अस मूसे ॥

मानव स्वभाव और हाव-भावों के समयोचित और स्वाभाविक चित्र भी जायसी ने अनेक खींचे हैं । उनमें इनकी सफलता दर्शनीय है । ये जिस कौशल के साथ शारीरिक भाव-भंगियों को अंकित करते हैं, उसी कौशल के साथ मनोभावों को । जलक्रीड़ा में पद्मावती और उसकी युवती सखियों के आनन्दोल्लास के साथ उनकी अंग भंगिमाओं का भी बड़ी बारीक़ी से दिग्दर्शन हुआ है । यही बात मनोव्यापारों के प्रदर्शन में जहाँ तहाँ दिखाई है । यह सब देखकर कह सकते हैं कि जायसी कवि के साथ ही एक सफल चितेरे हैं । जायसी ने अपने वर्णनों के द्वारा आगे आने वाले बड़े-बड़े कवियों को प्रचुर भाव-सामग्री दी है । तुलसी और बिहारी जैसे कविरत्नों ने उनकी उक्तियों और उनके चित्रणों से अपने

उसके आध्यात्मिक पक्ष का संकेत देते रहे हैं। काव्य-साहित्य की दृष्टि से यह आवश्यक भी था कि वे लौकिक पक्ष की मधुरिमा कायम रखते, पर लौकिक प्रेम ही चरम लक्ष्य न होने से उन्हें अपने सिद्धान्तों की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए भी प्रयत्न करना पड़ा है, और काव्य का उपसंहार करते समय उन्हें उस ऐतिहासिक प्रेम-कथा को भी एक रूपक बताकर अपने कवि और अपने ऐतिहासिक का सामञ्जस्य स्थापित कर देना पड़ा है। कलाकार और विचारक दोनों को एक मूर्ति में गढ़ देना पड़ा है। अखरावट उनके इस काव्य की उत्तरवर्ती रचना है। प्रेम-कथा उसका आधार नहीं है। इसलिए उसमें लौकिक की असारता मुख्य नहीं आध्यात्मिक उपलब्धि का सार मुख्य है। उसमें जायसी विचारक के रूप में हैं, कलाकार के रूप में नहीं।

काव्य का श्रृंगार किया है तो दूसरे कवियों का तो कहना ही क्या? परन्तु जायसी का काव्य ग्रामीण अवधी में होने के कारण अधिक प्रचलित नहीं हुआ और सर्वसाधारण में उसकी इन विशेषताओं पर चर्चा भी नहीं हो सकी। 'पद्मावत' की प्रतियाँ प्रायः फारसी लिपि में लिखी हुई प्राप्त हुई हैं, जो अधिकतर मुसलमान सज्जनों के पास मिली हैं। इससे उनके काव्य-कौशल के प्रचार में बाधा पड़ी है। जायसी ने अपभ्रंश काव्य एवं फारसी मसनवी से लाभ अवश्य उठाया है, परन्तु संस्कृत साहित्य का ज्ञान न होने से ये उससे वंचित से हो रहे हैं। इतने पर भी इनकी प्रतिभा दूसरों के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो उठी है। उसका कारण है इनमें भावप्रवणता, निरीक्षण-पटुता और सरल अभिव्यंजना का अद्भुत मेल।

पद्मावत के पात्र और उनका चरित्र-चित्रण

पद्मावत के पात्रों में मनुष्य मुख्य हैं सही किन्तु उनका कार्य अपने से इतर श्रेणी के पात्रों की सहायता बिना नहीं चलता। उन्हें देव-श्रेणी के पात्रों की मदद दरकार है। उनके हितसाधन में सहायक पशु-पक्षी भी होते हैं। बल्कि हीरामन तोता ही एक प्रकार से इस सारी कथा का सूत्रधार है। उसका सृजन कर के जायसी ने जन्मान्तरवाद पर आस्था प्रकट की है और संस्कारों का एक जन्म से दूसरे जन्म में पहुँचना भी माना है। हीरामन में पूर्व भाव की विद्या के संस्कार हैं, वह वयस्क है। उसके गले में कंठी है। वह द्विज होने से ब्राह्मण वर्ग का है। वेदपाठी और पंडित है। वह सूरज (राजा रतनसेन) को चाँद (पद्मावती) से मिलाने का वचन राजा को देता है। वही राजा के हृदय में पद्मावती का प्रेमांकुर पैदा करता है। वही राजा का सिंघल-द्वीप तक पथ-प्रदर्शन करता है। वहाँ पहुँच कर पद्मावती को राजा के पहुँचने का समाचार देता है तथा राजा के प्रेम का इस प्रकार वर्णन करता है कि पद्मावती के हृदय में भी अनुराग की आग प्रज्वलित हो उठती है। वह अपने योगी (प्रेमी) से साक्षात् करने को देवपूजन के

बहाने से मन्दिर में पहुँचती हैं। अध्यात्मपक्ष में हीरामन ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में गुरू का काम करता है। 'दुनियां-धंधा' नागमती से राजा को विरक्त करके परम ज्योति पद्मावती की ओर उसकी चित्तवृत्ति को मोड़ देता है और समय समय पर उसे उस मिलन के लिए उचित परामर्श देता है। रतनसेन-पद्मावतीमिलन के साथ उसका कार्य समाप्त हो जाता है, काव्य-पक्ष में भी और अध्यात्मपक्ष में भी।

देव-श्रेणी के पात्रों में हनुमान, महादेव, पार्वती और लक्ष्मी आदि हैं। योगी के वेश में वियोगी रतनसेन जब देवस्थान को ककनू पक्षी की तरह जला देने की अवस्था में पहुँच जाता है तो देवताओं में खलबली मच जाती है और हनुमान का लांगूल जलने लगता है तब वे भगवान् शंकर को खबर देते हैं। शंकर पार्वती सहित घटनास्थल पर पहुँचते हैं। पार्वती कौतूहलवश रतनसेन के प्रेम की परीक्षा लेती हैं, और प्रसन्न होकर शंकर जी से उसकी सहायता की प्रार्थना करती हैं। फलतः रतनसेन पद्मावती को पत्नी रूप से प्राप्त करता है। अध्यात्म-पक्ष में इसकी कोई विशेष संगति नहीं है। केवल इतना कह सकते हैं कि अनन्य प्रेम के बिना ईश्वरप्राप्ति नहीं हो सकती और जब वैसा प्रेम उत्पन्न हो जाता है तो देवताओं का सहयोग भी प्राप्त हुए बिना नहीं रहता।

लक्ष्मी और समुद्र को जायसी ने देव-श्रेणी के पात्रों में नहीं रक्खा प्रतीत होता है। कथा को रोमांटिक स्पर्श देने के लिए उन्हें अति मानवीय पात्रों के रूप में ग्रहण किया है। नागमती का संदेश पाकर रतनसेन की इच्छा फिर उस संसार में लौट चलने की हुई है अतः विदा होकर सिंहल से भारत की जलयात्रा जब वह अपनी प्रिया पद्मावती और अपने साथियों के साथ करने लगे तो तूफान में नौकाएँ जलमग्न हो गई। बहती हुई पद्मावती लक्ष्मी और उसकी सखियों को मिली। उसके रूप-यौवन और उसकी करुण दशा पर लक्ष्मी को दया आई।

कीन्हेसि सप्त मही बरम्हंडा।
कीन्हेसि भुवन चौदहो खंडा॥
कीन्ह सबै अस जाकर दूसर छाज़ न काहि।
पहिलै ताकर नाँव लै कथा करौं औगाहि॥१॥

कीन्हेसि सात समुंद अपारा।
कीन्हेसि मेरु, खिखिंद पहारा॥
कीन्हेसि सीप, मोति जेहि भरे।
कीन्हेसि बहुतै नग निरमरे॥
कीन्हेसि साउज आरन रहईं।
कीन्हेसि पङ्खि उड़हिं जहँ चहईं॥
कीन्हेसि मानुष, दिहेसि बड़ाई।
कीन्हेसि अन्न, भुगुति तेहिं पाई॥
कीन्हेसि दरब गरब जेहि होई।
कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई॥
कीन्हेसि जियन, सदा सब चहा।
कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा॥
कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोइ धनी।
कीन्हेसि सँपति विपति पुनि घनी॥
कीन्हेसि कोइ निभरोसी, कीन्हेसि कोइ बरियार।
छारहिं तें सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार॥२॥

जावत जगत हस्ति औ चाँटा।
सब कहँ भुगुति राति दिन बाँटा॥
पङ्खि पतङ्ग न बिसरै कोई।
परगट गुपुत जहाँ लगि होई॥
छत्रहिं अछत, निछत्रहि छावा।
दूसर नाहिं जो सरवरि पावा॥

अपने पिता सागर से कहकर उसने रतनसेन को खोज मँगाया तथा
पाँच अनमोल रत्नराशि देकर उन्हें विदा किया । इस अन्तर्कथा का
भी अध्यात्मपक्ष में कोई मेल नहीं है । पद्मावती के प्रति रतनसेन का
प्रेम आत्मा की परमात्मा के प्रति व्याकुलता के रूप में है, परन्तु यहाँ
पद्मावती को वियोग-व्याकुल दिखाया गया है ।

पद्मावति कहँ दुख तस बीता । अस अशोक-बीरो तर सीता ।
कनकलता दुइ नारँग फरी । तेहि के भार उठि होइ न खरी ।
तेहि पर अलक भुअंगिनि डसा । सिर पर चढ़ै हिए परगसा ।
रही मृणाल टेकि दुख-दाधी । आधी कँवल भई, ससि आधी ।
नलिन खंड दुइ तस करिहाऊँ । रोमावली बिछूक कहाऊँ ।
रही टूटि जिमि कंचन तागू । को पिउ मेलै देइ सोहागू ।
पान न खाइ करै उपवासू । फूल सूख, तन रही न बासू ।

पद्मावत में प्रेम-परीक्षा के अनेक स्थल हैं, वहाँ सर्वत्र आध्यात्मिक रूपक की चिन्ता व्यर्थ है । बिंब-प्रतिबिंब भाव रखने की चेष्टा करके रूपक-निर्वाह का कवि ने प्रयास नहीं किया है । यदि करता तो काव्य की रोचकता और सरसता का अभाव हो जाता । पद्मावती और नागमती का अन्त में रतनसेन के साथ सती होजाना भी एक ऐसा ही स्थल है । खैर, यहाँ तो हमें यही बताना है कि दैवी और अतिमानवीय चरित्रों की जायसी ने अवतारणा तो की है, काव्य के घटनाचक्र में उनका महत्व भी कम नहीं है, परन्तु उनके चरित्र की विशेष व्याख्या की न आवश्यकता था न कवि उस व्यर्थ प्रयास में प्रवृत्त हुआ है । मनोवैज्ञानिक चारित्रिक विकास उनके मानवी पात्रों में ही देखा जाता है जिनमें रतनसेन, पद्मावती, नागमती, राघवचेतन, सुलतान अलाउद्दीन तथा गोरा-बादल मुख्य हैं । इनमें जायसी ने कई पात्रों का आध्यात्मिक पक्ष में भी अध्याहार करने का संकेत किया है । परन्तु उनके लौकि अस्तित्व में किसी प्रकार बाधा उपस्थित नहीं होती ।

अति अपार करता कर करना।
बरनि न कोई पावै बरना ॥
सात सरग जो कागद करई।
धरती समुद दुहुँ मसि भरई॥
जावत जग साखा बनढाखा।
जावत केस रोंव पँखि पाखा॥
जाँवत खेह रेह दुनयाई।
मेघबूँद औ गगन तराई ॥
सब लिखनी कै लिखु संसारा।
लिखि न जाइ गति-समुद अपारा॥
ऐस कीन्ह सब गुन परगटा।
अबहुँ समुद महँ बूँद न घटा॥
ऐस जानि मन गरब न होई।
गरब करै मन बाउर सोई ॥

बड़ गुनवंत गुसाईं चहै सँवारै बेग।
औ अस गुनी सँवारै जो गुन करै अनेग ॥५॥

(२) पैगम्बर-स्तुति

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा।
नाम मुहम्मद पूनो-करा॥
प्रथम जोति विधि ताकर साजी।
औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी॥
दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा।
भा निरमल जग, मारग चीन्हा॥
जौं न होत अस पुरुष उजारा।
सूझि न परत पंथ अँधियारा॥

रतनसेन-वह राजा है। चित्तौड़ उसकी राजधानी है। आध्यात्मिक अर्थ में वह मन का प्रतीक है जो शरीर रूपी राजधानी पर राज्य करता है, परन्तु यहाँ हमें उस अर्थ का प्रयोजन नहीं है। हमें तो उसके मानवी चरित्र-विकास को ही देखना है। नागमती जैसी सती-सुन्दरी रानी के होते हुए भी उसका हीरामन द्वारा पद्मावती के रूप-गुण की प्रशंसा पर एकाएक इस प्रकार प्रेम में पागल होकर घरबार त्याग देना उसके चरित्र को कुछ ऊँचा नहीं उठाता। उसमें लोभ और वासना की उत्कट गंध है। परन्तु पद्मावती के प्रति उसके प्रेम की उत्कटता और एकान्तता में उसकी लगन और निष्ठा निखर गई है, पार्वती और लक्ष्मी द्वारा ली गई परीक्षा में उसकी परीक्षा भी होगई है। फिर तो वह प्रेम सघन और गंभीरतर होता गया है। उसकी परिणति में यह वासना नहीं रहगई है। नागमती का संदेश पाकर चित्तौड़ आने तथा पदमावती और नागमती में सौहार्द स्थापित कराने के सफल प्रयत्न में उसके चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वह परस्पर झगड़ती हुई सपत्नियों के पास जाकर कहता है—

एक बार जो पिय मन बूझा। सो दुसरे सौं काहेक जूझा।
अस गियान मन आवन कोई। कबहूँ राति, कबहुँ दिन होई।
धूप छाँह दोऊ पिय के रंगा। दूनौ मिली रहैं इक संगा।
जूझ छाँड़ि अब बूझहु दोऊ। सेवा करहु सेव फल होऊ।
गंग-जमुन तुम नारि दोउ, लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनौ, तौ मानहुँ सुखभोग।

एक को गंगा और दूसरी को जमुना बताकर तथा उन्हें बारी बारी से गले लगाकर वह बेचारी नागमती का परितोष मात्र नहीं करता है। आगे राघवचेतन जैसे पाखंडी को निर्वासन दंड देने में, तथा सुलतान अलाउद्दीन पर सहसा विश्वास कर लेने में उसके स्वभाव की अदूर-दर्शिता और निश्चलता स्पष्ट है। उसके व्यक्तिगत वीरता-प्रदर्शन के

अदल कहौं पुहुमी जस होई।
चाँटा चलत न दुखवै कोई ॥
नौसेरवाँ जो आदिल कहा।
साहि अदल सरि सोउ न अहा ॥
परी नाथ कोइ छुवै न पारा।
मारग मानुष सोन उछारा ॥
गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा।
दूनौ पानि पियहिं एक घाटा ॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा।
विधि स्वरूप जग ऊपर गढ़ा ॥
दान डाँक बाजै दरबारा।
कीरति गई समुन्दर पारा ॥
जो कोइ जाइ एक बेर माँगा।
जनम न भा पुनि भूखा नाँगा ॥
ऐस दानि जग उपजा सेरसाहि सुलतान।
ना अस भयउ न होइहि ना कोइ देइ अस दान ॥८॥

(४) पीर-स्तुति

सैयद असरफ़ पीर पियारा।
जेहि मोंहि पंथ दीन्ह उँजियारा ॥
लेसा हियें प्रेम कर दीया।
उठी जोति, भा निरमल हीया ॥
मारग हुत अँधियार जो सूझा।
भा अँजोर, सब जाना बूझा ॥
खार समुद्र पाप मोर मेला।
बोहित-धरम लीन्ह कै चेला ॥

अबहु मया करु, करु जिउ फेरा।
मोंहि जियाउ कंत देइ मेरा॥
सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ॥

अपने स्वामी के लिए उसका जी कहता है कि—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन! उड़ाव।
मनु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥

हृदय की इसी उदारता, प्रेम की इसी प्रशस्तता, के बल पर उसे अपने स्वामी का अखंड सौभाग्य प्राप्त था, उसने स्वयं अपने दाम्पत्य-जीवन की उपमा सारस की जोड़ी से दी है—

सारस जोड़ी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह।

जब सिंघल से लौट कर रतनसेन उसके महल में पहुँचता है, तो स्वाभाविक मान से उसका हृदय भर जाता है—

नागमती मुख फेरि बईठी।
सौंह न करै पुरुष सौं दीठी॥
ग्रीषम जरत छाँड़ि जो जाई।
सो मुख कवन दिखावै आई?

वह अपने स्वामी की बड़ी मार्मिक भर्त्सना करती है—

काह हँसौ तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह॥
भलेहि सेत गंगाजल मीठा।
जमुन जो सामनीर अति मीठा॥

सचमुच ही पद्मावती और नागमती के प्रेम में गंगा और जमु
में जल का सा अन्तर है। वह देखने में शुभ्र है वह पीने में मधुर है।
प्रकार नागमती के जीवन को व्यथा की ज्वाला में तपाकर जाय
बना आदर्श बना दिया। इस दुखिया नारी के लिए पाठक की

सिंहलनगर देखु पुनि बसा।
धनि राजा अस जे कै दसा॥
ऊँची पौरी ऊँच अवासा।
जनु कैलास इन्द्र कर वासा॥
राव रंक सब घर घर सुखी।
जो दीखै सो हँसता-मुखी॥
सबै गुनी औ पंडित ज्ञाता।
संसकिरित सब के मुख बाता॥
पुनि देखी सिंहल कै हाटा।
नवो निद्धि लछिमी सब बाटा॥
रतन पदारथ मानिक मोती।
हीरा लाल सो अनगन जोती॥
जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा।
ता कहँ आन हाट कित लाहा? ॥
कोई करै बेसाहनी काहू केर बिकाइ।
कोई चलै लाभ सन, कोई मूर गँवाइ ॥४॥

पुनि आए सिंघलगढ़ पासा।
का बरनौं जनु लाग अकासा॥
परा खोह चहुँ दिसि अस बाँका।
काँपै जाँघ, जाइ नहि झाँका॥
अगम असूझ देखि डर खाई।
परै सो सपत-पतारहिं जाई॥
नव पौरी बाँकी, नवखण्डा।
नवौ जो चढ़ै जाइ बरम्हंडा॥
निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू।
नाहिं त होइ बाजि रथ चूरू॥

अधिक सहानुभूति उन्होंने सुरक्षित कर दी है। अन्यत्र तड़क-भड़क है, संघर्षण-विघर्षण है, भीड़-भाड़ और आमोद-प्रमोद है परन्तु यहाँ सीधा-सरल किन्तु असर करने वाला आत्म समर्पण है। इसमें उत्कट स्वार्थ का भाव नहीं है। इसमें दो बूँद जल की आकांक्षा है। उस प्रदान में कवि ने कृपणता नहीं की है। उसकी उपलब्धि कराकर प्रेम के मार्ग को बियावान में खो जाने से बचा लिया है। उन्हें कहना पड़ा है—

पनुही नागमती कै मारी।
सोने फूल फूलि फुलवारी॥

इससे अधिक नागमती की प्रेम-परीक्षा दरकार न थी तो भी कवि ने उसका स्वामी शव के साथ चितारोहण वर्णन किया है।

राघवचेतन—इसका परिचय कवि के शब्दों में इस प्रकार है—

चित चेता, जानै बहु भेऊ। कवि बियास, पण्डित सहदेऊ॥
बरनी आइ रांज कै कथा। पिंगल महँ सब सिंघल मथा॥

वेद भेद जस बर रुचि, चित चेता तस चेप।
राजा भोज चतुरदस, भा चेतन सौं हेत॥

'दूज' के निर्णय में पण्डितों से विवाद उठ खड़ा होने पर पण्डितों ने उसके सम्बन्ध में कहा है—

राघव करै जाखिनी पूजा।
चहै सो भाव दिखावै दूजा॥
यहि कर गुरू चमारिन लोना।
सिखा काँवरू पाढ़ टोना॥

इसके बाद पण्डितों ने राजा को भरमाने के लिए कहा—जो अमावस को द्वितीया ला सकता है ऐसे पाखंडी जादूगर को राजद्वार में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि कभी वह चन्द्रमा के लिए राहु को भी बुला सकता है।

कन्यारासि उदय जग कीया।
पदमावती नाम अस दीया॥
कन्हेसि जनमपत्री जो लिखी।
देइ असीस बहुरे जोतिषी॥
पाँच बरस महँ भै सो बारी।
दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी॥
भै पदमावति पंडित गुनी।
चहूँ खंड के राजन्ह सुनी॥
सात दीप के बर जो ओनाहीं।
उत्तर पावहिं फिरि फिरि जाहीं॥
राजा कहै गरब कै अहौं इंद्र सिवलोक।
को सरवरि है मोरे का सौं करौं बरोक॥१०॥

सात खंड धौराहर तासू।
सो पदमिनि कहँ दीन्ह निवासू॥
औ दीन्हीं सँग सखी सहेली।
जो सँग करैं रहसि रस-केली॥
सुआ एक पदमावति ठाऊँ।
महा पँडित हीरामन नाऊँ॥
दई दीन्ह पंखिहि असि जोती।
नैन रतन, मुख मानिक मोती॥
कंचन-बरन सुआ अति लोना।
मानहुँ मिला सोहागहिं सोना॥
रहहिं एक सँग दोऊ पढ़हिं सासतर वेद।
बरम्हा सीस डोलावहीं सुनत लाग तस भेद॥११॥

भै उनंत पदमावति बारी।
रचि रचि विधि सब कला. सँवारी॥

इसी तरह की छल-प्रपंचमयी विद्या द्वारा राजा भोज छले गये थे। पण्डितों के भावी संकेत सूचक इन दुअर्थक शब्दों के चक्रमें में आकर रतनसेन राघवचेत को निर्वासन की आज्ञा देता है।

इस समाचार से पद्मावती कुछ अस्त व्यस्त होती है। वह कहती है—

ज्ञान दिस्टि धनि अगम विचारा।
भल न कीन्ह अस गुनी निसारा॥
जेहिं जाखिनी पूजि ससि काढ़ा।
सूर के ठाँव करै पुनि ठाढ़ा॥
कवि कै जीभ खड़ग हरद्वानी।
एक दिसि आगि, दुसर दिसि पानी॥

इस आशंका से भयभीत पद्मावती ने राघव चेतन को प्रसन्न करने के निमित्त सूर्यग्रहण का दान लेने के बहाने बुलाया। राघवचेतन ब्राह्मण था, इनकार कैसे करता? जायसी कहते हैं—

बाह्मन जहाँ दच्छिना पावा।
सरग जाइ जौ होइ बुलावा॥

परन्तु अब तक वह यह न जानता था कि पद्मावती इतनी सुन्दरी है। जब झरोखे से वह अपने हाथ का कंकण फेंकने लगी तो उसकी रूप-छटा देखकर राघवचेतन, जो विद्या और बुद्धि में इस प्रकार सचेत था, हतचेत होकर गिर पड़ा। उसके मुँह से कवि ने कहलाया भी है—

लेइ गई जीउ दच्छिना धोखे।

परन्तु पद्मावती की प्राप्ति का कोई उपाय न देखकर उसने दूसरा ही मार्ग ग्रहण करना उचित समझा, और कहा—

कँवल बखानौं जाइ तइँ, जहँ अलि अलाउदीन।
सुनि कै चढ़ै भानु होइ, रतन जो होइ मलीन॥

पंखि न कोई होइ सुजानू ।
जानै भुगुति, कि जान उड़ानू ॥
सुआ जो पढ़ै पढ़ाए बैना ।
तेहि कत बुधि जेहिं हिये न नैना ? ॥
मानिक मोती देखि वह हिये न ज्ञान करेइ ।
दारिउँ दाख जानिकै अवहिं ठोर भरि लेइ ॥१३॥

वै तौ फिरे उतर अस पावा ।
बिनवा सुआ हिये डर खावा ॥
रानी तुम जुग जुग सुख पाऊ ।
होइ अज्ञा बनवास तो जाऊँ ॥
मोतिहिं मलिन जो होइ गइ कला ।
पुनि सो पानि कहाँ निरमला ? ॥
ठाकुर अंत चहै जेहि मारा ।
तेहि सेवक कर कहाँ उबारा ? ॥
रानी उतर दीन्ह कै माया ।
जौं जिउ जाइ रहै किमि काया ? ॥
हीरामन ! तू प्रान परेवा ।
धोख न लाग करत तोहिं सेवा ॥
तोहिं सेवा बिछुरन नहिं आखौं ।
पींजर हिये घाल कै राखौं ॥
सुअटा रहै खुरुक जिउ अवहिं काल सो आव ।
सत्रु अहै जो करिया कबहुँ सो बोरे नाव ॥१४॥

इस निश्चय में पद्मावती की प्राप्ति की उतनी आशा न थी कि जितनी रतनसेन से बदला लेने की।

इस प्रकार विद्या बुद्धि का अवतार राघवचेतन एक भयंकर प्राणी है। वेद और शास्त्र, धर्म और कर्त्तव्य का घनिष्ट परिचय होने से उनके प्रति उसकी अवस्था उठ गई प्रतीत होती है। जाति, धर्म और देश का विचार स्वार्थ के सामने उसे नगण्य है। सुलतान से चित्तौड़ के राजसिंहासन का वचन मिल जाना ही उसके लिए पर्याप्त है।

अलाउद्दीन का इतिहास-प्रसिद्ध चरित्र ही अंकित हुआ है। गोरा बादल के चरित्र में राजपूती वीरता का ओजस्वी चित्र है। जायसी पात्रों के निर्माण और उनके चित्रण में सफल हुए हैं परन्तु गोस्वामी तुलसीदास या सूरदास की भाँति। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अपनी-अपनी विशेषता नहीं रखता है चरित्र निर्माण में गहरी और हलकी रेखाओं का ध्यान कम रक्खा गया है, परन्तु उसका बिल्कुल अभाव नहीं है। इनके चरित्र चित्रण में एक ही कमी है कि 'भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की अन्त वृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण इनमें नहीं है।' लेकिन जहाँ कहीं इस ओर इन्होंने ध्यान दिया वहाँ इनसे कोई शिकायत नहीं है। इसका पहला कारण तो यही है कि जायसी में निरीक्षण शक्ति से अधिक भावुकता है। वे प्रेम की पीर अपने कवि-हृदय में लिए फिरते हैं। उस पीड़ा को, हृदय की उस भाव-गंगा को, जहाँ भी अवसर मिले वहा देने को वे तैयार हैं। सांसारिकता उन्हें कम रुचती है, उनके यहाँ व्यवहारिक जीवन की सार्थकता, प्रेम और भावुकता के प्रति आत्म-समर्पण करने में ही है। परन्तु जहाँ तहाँ काव्य में उन्हें व्यवहार की कठिन भूमि पर उतर आना ही पड़ा है तब एक तलदर्शी की भाँति उसका उन्होंने निर्वाह किया है। गोरा-बादल के चरित्र-चित्रण में उनकी भावुकता और व्यावहारिकता एक प्राण हुई दिखती हैं। राघवचेतन के चरित्र में उनका व्यावहारिक रूप अधिक प्रत्यक्ष है।

ओनई घटा परी जग छाहाँ।
ससि कै सरन लीन्ह जनु राहाँ॥
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा।
लेइ निसि नखत चाँद परगसा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा।
मेघघटा मँह चंद देखावा॥
धरी तीर सब कंचुकि सारी।
सरवर महँ पैठीं सब बारी॥
सरवर नहिं समाइ संसारा।
चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा॥
धनि सो नीर ससि तरई ऊईं।
अब कित दीठ कमल औ कूईं॥
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलौं, हो नाहँ।
एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल माहँ॥१७॥

लागीं केलि करै मझ नीरा।
हंस लजाइ बैठ ओहि तीरा॥
बाद मेलि कै खेल पसारा।
हार देइ जो खेलत हारा॥
सँवरिहिं साँवरि, गोरिहिं गोरी।
आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी॥
बूझि खेल खेलहु एक साथा।
हार न होइ पराए हाथा।
सखी एक तेइ खेल न जाना।
भै अचेत मनि-हार गवाँना॥
कवँल डार गहि भै बेकरारा।
कासों पुकारौं आपन हारा॥

'पद्मावत' में पात्रों के संबंध से प्रेम के भिन्न-भिन्न रूप

जिस प्रकार स्वाति की बूँद का पात्र-भेद से भिन्न-भिन्न फल होता है, उसी प्रकार 'पदमावत' में प्रेम-तत्व के पात्र भेद से भिन्न रूप मिलते हैं। रतनसेन को पदमावती के प्रति प्रेम एक तरह का है, नागमती का रतनसेन के प्रति प्रेम उससे भिन्न प्रकार का है। पदमावती का रतनसेन के लिए प्रेम और ही प्रकार का है। अलाउद्दीन का पदमावती के प्रति प्रेम अपनी अलग कोटि रखता है।

आध्यात्मिक रूपक की सार्थकता के हेतु, जिसका उल्लेख कवि ने काव्य के अन्त में किया है, रतनसेन का पदमावती के लिए प्रेम विह्वल होकर अपने शरीर का भाव भूल जाना जीव की परमात्मा के लिए स्वाभाविक व्याकुलता का सूचक है। किन्तु लौकिक अर्थ में यह कुछ अस्वाभाविक सा हो गया है। हीरामन से पद्मावती के रूप और यौवन की प्रशंसा सुनते ही राजा रतनसेन का व्याकुल हो उठना, अपना घर-बार छोड़ देना, नागमती जैसी प्रेम सी मूर्ति की चिन्ता न करके एक अज्ञात सुन्दरी के लिए जोगी बनकर निकल भागना, जिसके हृदय की स्निग्धता और रुचि का उसे कोई ज्ञान नहीं है, बहुत कुछ औपन्यासिक हो गया है। यह प्रेम फारस की प्रेम-परंपरा से मिलता जुलता है जिसमें पुरुष-प्रेमी स्त्री प्रेमपात्र के लिए जीवन के जोखिम की परवाह न करके उसमें लग जाता है। शीरीं और फरहाद की प्रेम-कहानी कुछ इसी प्रकार विकसित होती है। पर्वत काट कर नहर बनाने की सूरत में ही प्रेमिका की प्राप्ति होने की आशा में जीवन का संकट मौजूद है। यहाँ भी सिंहल तक पहुँचने में ही सात समुद्रों को पार करना है। इन समुद्रों की कल्पना भी कवि ने बड़ी विचित्र की है। यदि किसी प्रकार उन्हें पार भी किया जा सके तो भी पदमावती की प्राप्ति एक आकाश कुसुम की प्राप्ति से कम कठिन नहीं है। प्रश्न होता है कि भारतीय मिट्टी से बने रत्नसेन में, जो स्वयं विवाहित है जिसे अपने दाम्पत्य जीवन

जाइ परा बनखँड जिउ लीन्हें ।
मिले पंखि, बहु आदर कीन्हें ॥
आनि धरेन्हि आगे फरि साखा ।
भुगुति भेंट जौ लहि बिधि राखा ॥
पाइ भुगुति सुख तेहि मन भएऊ ।
दुख जो अहा बिसरि सब गएऊ ॥
ए गुसाइँ तूँ ऐस विधाता ।
जावत जीव सबन्ह भुकदाता ॥
पाहन महँ नहिं पतँग बिसारा ।
जहँ तोहि सुमिर दीन्ह तुइँ चारा ॥
तौ लहि सोग बिछोह कर भोजन परा न पेट ।
पुनि बिसरन भा सुमिरना जब संपति भै भेंट ॥२०॥

पदमावति पहँ आइ भँडारी ।
कहेसि मँदिर महँ परी मजारी ॥
सुआ जो उतर देत रह पूँछा ।
उड़िगा, पिंजर न बोलै छूँछा ॥
रानी सुना सबहिं सुख गएऊ ।
जनु निसि परी, अस्त दिन भएऊ ॥
गहने गही चाँद कै करा ।
आँसु गगन जस नखतन्ह भरा ॥
टूट पाल सरवर बहि लागे ।
कवँल बूड़, मधुकर उड़ि भागे ॥
एहि विधि आँसु नखत होइ चूए ।
गगन छाँड़ि सरवर महँ ऊए ॥
चिहुर चुईं मोतिन कै माला ।
अब सँकेत बाँधा चहुँ पाला ॥

के प्रति कोई असन्तोष नहीं है, इस अस्वाभाविक प्रेम-पथ का पथिक बनने की आवश्यकता क्या है ? जो न उसके संस्कारों के अनुकूल है न आदर्शों के। यहीं पर भारतीय अभारतीय का अन्तर प्रकट हो जाता है। यदि कोई भारतीय कवि इस कथानक को लिखता तो वह नागमती की सृष्टि शायद ही करता। जायसी के सामने यह समस्या उतने उग्र रूप में न थी। उनके अहले इस्लाम में बहुपत्नी-प्रथा एक शास्त्र-सम्मत तथ्य है। उसमें कोई अनौचित्य नहीं है। नायक के व्यक्तित्व और सदाचार में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर उनके सामने भारतीय साहित्य में प्रसिद्धि प्राप्त नल-दमयन्ती की कथा मौजूद थी, जो हंस द्वारा प्रेम-सूत्र में ग्रथित हो चुके थे। परन्तु वहाँ उनके प्रेम का/आधार था। नल दमयन्ती के विषय में और दमयन्ती नल के विषय में बहुत पहले से ही सुन चुके थे और एक दूसरे के रूप-गुण पर निछावर थे। इधर रतनसेन के लिए पद्मावती एक अपरिचित सुन्दरी है। उसकी प्राप्ति में यदि उसे कोई सहारा है तो केवल हीरामन का। आध्यात्मिक अर्थ में हीरामन कैसा ही महान व्यक्तित्व रखता हो, वह पदप्रदर्शक गुरु ही क्यों न हो, लौकिक दृष्टि से वह अशक्त है—इतना अशक्त कि बिल्ली के डर से सिंघल छोड़कर भाग निकलता है, बहेलिए के जाल में फँस जाता है, नागमती के क्रोध का शिकार होता है। यदि दासी उसे बचाकर न रखती तो शायद वह यह सब कहने के लिए जीवित भी न रहता। इस तिनके का सहारा लेकर रतनसेन का यह महान अभिमान उसका दुस्साहस पूर्ण कार्य है। वह प्रेम से प्रेरित उतना नहीं है जितना लोभ से। यदि रतनसेन के इस प्रयत्न में औचित्य है तो अलाउद्दीन का प्रयत्न भी तो कुछ कुछ इसी प्रकार का था। उसमें और इसमें एक ही बात का अन्तर है रतनसेन एक कुमारी की प्राप्ति में लगा है और अलाउद्दीन एक विवाहिता नारी की।

अपने सच्चे अर्थों में पद्मावती के लिए रतनसेन का प्रेम उस समय से आरंभ होता है, जब वह देव स्थान में उसे देखकर मूर्छित

आज जो तरिवर चल, भल नाहीं।
आवहु यह बन छाँड़ि पराहीं॥
वै तौ उड़े और बन ताका।
पण्डित सुआ भूलि मन थाका॥
साखा देखि राज जनु पावा।
वैठ निचिंत, चला वह आवा॥

पाँच बान कर खोंचा लासा भरे सो पाँच।
पाँख भरे तन अरुझा, कित मारे बिनु बाँच॥२३॥

बँधिगा सुआ करत सुख केली।
चूरि पाँख मेलेसि धरि डेली॥
तहवाँ बहुत पंखि खरभरहीं।
आपु आपु महँ रोदन करहीं॥
बिखदाना कित होत अँगूरा।
जेहि भा मरन डहन धरि चूरा॥
जौं न होत चारा कै आसा।
कित चिरिहार ढुकत लेइ लासा?॥
यह बिष चारै सब बुधि ठगी।
औ भा काल हाथ लेइ लगी॥
एहि झूठी माया मन भूला।
ज्यों पंखी तैसै तन फूला॥
यह मन कठिन मरै नहिं मारा।
काल न देख, देख पै चारा॥

हम तौ बुद्धि गँवावा बिख-चारा अस खाइ।
तैं सुअटा पण्डित होइ कैसे बाँधा आइ?॥२४॥

सुऐ कहा हमहूँ अस भूले।
टूट हिंडोल-गरब जेहि भूले॥

होता है। सती द्वारा प्रेम-परीक्षा में वह इसीलिए सफल हो सका है कि उसे अपनी प्रेयसी के आकार-प्रकार का ज्ञान है। बाद की घटनाओं में उसका प्रेम औचित्यपूर्ण और स्वाभाविक है। ज्यों ज्यों पदमावती के साथ उसका समागम विस्तृत होता गया है त्यों त्यों प्रेम का रूप भी सम्पन्न और भद्र होता गया है। परिणति में प्रेम की स्वाभाविकता का अच्छा निर्वाह हुआ है। उसमें क्रमशः लोककल्याण की भावना का विकास भी, छानवीन के साथ देखें तो, मिल जाता है। यदि प्रारंभ से ही रतनसेन का प्रेम एकान्तिक और अनन्य मान लिया जाय तो बहुत निराश होना पड़ेगा। क्योंकि पदमावती के साथ शारीरिक संबंध होने के कुछ समय बाद हम रतनसेन में एक तृप्ति का अनुभव करते हैं, जो विरक्ति का आभास देती है। वह अब सिंघल छोड़कर चित्तौड़ की ओर जाना चाहता है काव्य में ऐसी कोई घटना घटित तो नहीं हुई कि पदमावती उसके साथ जाने से इनकार कर देती और तब देखती कि वह क्या निर्णय करता? परन्तु ऐसा होने पर भी वह चित्तौड़ जाये विना नहीं मानता यही कहने को जी चाहता है। इस सूरत में रतनसेन के प्रेम की शृंखला छिन्न-भिन्न होकर विखर जाती है और वह एक साधरण पुरुष का साधारण नारी के प्रति नैसर्गिक ऐन्द्रिय-प्रेम-मात्र रह जाता है। अपने शुद्ध अर्थ में प्रेम वह है जो स्वार्थ और वासना परक न होकर आत्मोत्सर्ग की भावना से पूर्ण हो, जो एक बार जगकर उत्तरोत्तर घनतर होता जाय, जो प्रेम पात्र के सुख-संतोष की ओर ही देखे अपने सुख संतोष की ओर से मुँह मोड़ ले।

नागमती का रतनसेन के प्रति प्रेम एक कुलवधू का अपने जीवन सर्वस्व के लिए प्रेम है। प्रेम के इस चित्र को अंकित करने में जायसी ने भारतीय नारी जीवन को वड़े स्वाभाविक रूप में दिखाया है। पदमावती और नागमती के नामों के वाच्यार्थ को लेकर कवि ने जहाँ तहाँ एक को मधुमयी तो दूसरी को विपैली वताया है और आध्यात्मिक अर्थ में भी पिछली को दुनियाँ-धंधा माना है, तो भी उसके प्रेम को जिस सहृदयता

(१) बनिजारा-खण्ड

चितउरगढ़ कर एक बनिजारा।
सिंघलदीप चला बैपारा॥
बाम्हन हुत एक निपट भिखारी।
सो पुनि चला चलत बैपारी॥
ऋन काहू कर लीन्हेसि काढ़ी।
मकु तहँ गए होइ किछु बाढ़ी॥
मारग कठिन बहुत दुख भएऊ।
नाँघि समुद्र दीप ओहि गएऊ॥
देखि हाट किछु सूझ न ओरा।
सबै बहुत, किछु देख न थोरा॥
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा।
धनी पाव, निधनी मुख हेरा॥
लाख करोरिन्ह वस्तु विकाई।
सहसन केरि न कोउ ओनाई॥
सबहीं लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोर।
बाम्हन तहवाँ लेइ का? गाँठि साँठि सुठि थोर॥१॥

झूरै ठाढ़ हौं, काहे क आवा?
बनिज न मिला रहा पछितावा॥
लाभ जानि आएउँ एहि हाटा।
मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटा॥
जेहि ब्योहरिया कर ब्योहारू।
का लेइ देब जौ छेंकिहिं बारू॥

से खोलकर दिखाया है वह सबसे उज्ज्वल हो उठा है। नागमती का प्रेम पार्थिव प्रेम है सही परन्तु वह घृणित नहीं है। उसमें इन्द्रिय-विलास की परछांइं पड़ती है परन्तु कर्तव्य और धर्म की सीमा का उल्लंघन नहीं है। वह पृथ्वी पर प्रेम की स्वर्गीय देवी का मन्दिर है वह मृत्यलोक में, इन्द्रिय विलास की मिट्टी में, मानवी खाद पानी से सींचा हुआ प्रेम का ऐसा पारिजात है जिसमें नंदनकानन की दिव्य सुगन्धि और चन्द्रलोक की सुधा का एक साथ ही निवास है। काव्य में नागमती का पहला दर्शन कुछ सुन्दर नहीं है। वह हीरामन तोते के सामने एक रूपगर्विता और स्वार्थलिप्सा में डूबी हुई नारी के रूप में दिखाई पड़ती है। हीरामन को मार डालने के लिए दासी को आज्ञा देते समय उसका चित्र बड़ा क्रूर रहा है। उसके बाद से, जब से रतनसेन सिंघल जाने को तैयार होता है, उसका जीवन और रूप बड़ा ही आकर्षक बन जाता है। उसकी करुण और अश्रुसिक्त मूर्ति पिछली कालिमा से धुलकर एक दम दिव्य बन जाती है। उसके प्रेम में भी उसके रूप की पवित्र छाया पड़ती रहती है। उसे हम पाशवी से मानवी और मानवी से देवी बनते देखते हैं। उसके प्रेम में उत्सर्ग की भावना निरन्तर बढ़ती जाती है। मालूम पड़ता है कवि की इस शिक्षा को नागमती ने अक्षर अक्षर अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया है—

पपिहै स्वाती सौं जस प्रीती। टेकु पियास, बाँध मन थीती।
धरतिहि जैस गगन सौं नेहा। पलटि आव बरषा ऋतु मेंहा॥

मिलहिं जो बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहन्त।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहन्त॥

नागमती के विरह के सामने मृगशिरा की 'तपनि' भी कोई चीज नहीं थी। उसने अपने प्रियतम के सिंघल-प्रवास के दिवस जिस तरह बिताये थे उसका उल्लेख जिस विस्तार और सहृदयता से जायसी ने किया था वह अनुपम है और देखते ही बनता है—

तव लगि चित्रसेन सव साजा।
रतनसेन चितउर भा राजा॥
आइ वात तेहि आगे चली।
राजा वनिज आए सिंघली॥
हैं गजमोति भरी सव सीपी।
और वस्तु वहु सिंघलदीपी॥
वाम्हन एक सुआ लेइ आवा।
कंचन-वरन अनूप सोहावा॥
राते स्याम कंठ दुइ काँठा।
राते डहन लिखा सव पाठा॥
औ दुइ नयन सुहावन राता।
राते ठोर अमी-रस वाता॥
मस्तक टीका, काँध जनेऊ।
कवि वियास, पण्डित सहदेऊ॥
वोल अरथ सौं वोलै सुनत सीस सव डोल।
राज-मँदिर महँ चाहिय अस वह सुआ अमोल॥४॥
भै रजाइ जन दस दौराए।
वाम्हन सुआ वेगि लेइ आए॥
विप्र असीसि 'विनति औधारा।
सुआ जीउ नहिं करौं निरारा॥
पै यह पेट महा विसवासी।
जेइ सव नाव तपा सन्यासी॥
सुवा असीस दीन्ह वड़ साजू।
वड़ परताप अखंडित राजू॥
कोइ विनु पूछे वोल जो वोला।
होइ वोल माँटी के मोला॥

रकत कै आँसु परहिं भुइँ टूठी। रेंगि चलीं जस बीर बहूटी।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसुंभी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह भुलाइ देह भकभोरा।
जग जल-बूड़ जहाँ लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी॥

परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख।
किमि मै भेंटौं कन्त तुम्ह, ना मोहि पाँव, न पाँख॥

बरसै मघा भकोरि भकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी।
धनि सूखै भरे भादौं माहाँ। अबहु न आएन्हि सींचेन्हि नाहा।

इस विरह में कितनी करुणा है; इस प्रेम में कितने आँसू हैं, इस आह्वान में कितनी कातरता है, कितनी विवशता है! इसमें वासना की आँधी नहीं है। इसमें इन्द्रिय-विलास का बवंडर नहीं है। इसमें तरल-प्रेम की स्निग्ध ज्योत्सना है। नागमती के प्रेम का सागर इस में उमड़ रहा है। धूल में लोटता हुआ बालक जैसे स्वर्ग की सहानुभूति करा देता है वैसे ही नागमती का यह प्रेम सांसारिक होते हुए भी बाजारूपन से कहीं उच्च है। वह सच्चे अर्थों में प्रेम का प्रतीक है। वह परिचय और सहवास से उत्पन्न हुआ है, विरह और वियोग ने उसे स्थायी और व्यापक बनाया है। इसीलिए उसमें दूसरे के सुख-दुख को समझने समझाने की विश्वभावना का उदय हो गया है, जिसका वाक्य में एकाध स्थल पर संकेत मिलता है नागमती का प्रेम दाम्पत्य प्रेम का नमूना है जिसमें प्रेम पात्र के लिए सर्वस्व त्याग की भावना को भावना नहीं रहने दिया गया है, उसे चरितार्थ करके दिखाया गया है।

काव्य की नायिका पद्मावती का रतनसेन के प्रति प्रेम बहुत दूर तक प्रेम के रूप में नहीं है। उसे एक नवयुवती की कामवासना का प्रतीक ही कहा जा सकता है। यौवन मद से मतवाली राजकुमारी में जो आँधी उठ रही है वह पुरुष की इच्छा के रूप में है, किसी विशिष्ट प्रणयी के लिए नहीं। हीरामन के आश्वासन का उसे ध्यान है पर किसी

सुमिरि रूप पदमावति केरा।
हँसा सुआ, रानी मुख हेरा॥
जेहिं सरवर महँ हंस न आवा।
बगुला तेहि सर हंस कहावा॥
दई कीन्ह अस जगत अनूपा।
एक एक तें आगरि रूपा॥
कै मन गरब न छाजा काहू।
चाँद घटा औ लागेउ राहू॥
लोनि बिलोनि तहाँ को कहै।
लोनी सोई कंत जेहि चहै॥
का पूँछहु सिंघल कै नारी।
दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी॥
पुहुप सुवास सो तिन्ह कै काया।
जहाँ माथ का बरनौं पाया?॥

गढ़ी सो सोने सोंधै भरी सो रूपै भाग।
सुनत रूखि भइ रानी हिये लोनु अस लाग॥७॥

जो यह सुआ मँदिर महँ अहई।
कबहुँ बात राजा सौं कहई॥
सुनि राजा पुनि होइ वियोगी।
छाँड़े राज, चलै होइ जोगी॥
बिख राखिय नहिं, अँकूरू।
सबद न देइ भोर तमचूरू॥
धाय दामिनी-बेग हँकारी।
ओहि सौंपा हीये रिस भारी॥
देखु, सुआ यह है मँदचाला।
भएउ न ताकर जाकर पाला॥

खास पुरुष के लिए उसकी उत्कंठा नहीं है। वह किसी भी सुन्दर सुदर्शन युवक के प्रति अपने और यौवन को अर्पण कर सकती है। यह स्थिति काव्य की नायिका के लिए बड़ी भयावह है। परन्तु वह कुमारी है। अभी तक उस पर किसी पुरुष का अधिकार नहीं हुआ है, अतः वह निर्दोष मानली जा सकती है। रतनसेन से देवस्थान में चार आँखें होने से प्रेम का उदय होता है। इससे निकटपूर्व की अवस्था पूर्वानुराग की अवस्था मानी जा सकती है परन्तु जब से उसका प्रेम विशेषोन्मुख हो जाता है, हम बराबर उसे एक सच्ची प्रेमिका के रूप में पाते हैं। प्रेम-मार्ग से एक तिल भर वह विचलित नहीं होती। रतनसेन को सूली की आज्ञा होने पर वह अपने प्राण देने को तैयार हो जाती है। समुद्र में नौकाएँ नष्ट हो जाने पर वह बहती-बहती जब लक्ष्मी द्वारा बचा ली जाती है तब भी हम उसे स्वामी बिना जीवन नष्ट करने को तत्पर देखते हैं। ज्यों ज्यों सहवास का रस परिपक्व होता है उसका प्रेम भी गहरा होता जाता है। चित्तौड़ में पहुँच जाने पर पदमावती में गृहणी की बुद्धि और सद्भावना जग जाती है। उसके प्रेम का रंग निर्मल हो जाता है। पूर्वानुराग की अवस्था से विकसित होते होते उसका प्रेम निर्भर प्रेम की दशा तक पहुँच जाता है। अपनी पहली अवस्था में जो प्रेम शारीरिक-तृप्ति की आकांक्षा तक ही सीमित था। आगे चलकर उसे कर्तव्य-बुद्धि हुई है। और उसे अपना मार्ग समझा है। पदमावती के प्रेम की विकासमान दशा का उस अवस्था में जाकर अवसान होता है जिसे आदर्श दाम्पत्य-प्रेम कह सकते हैं। यह प्रेम नागमती के प्रेम से भिन्न प्रकार का और भिन्न पथ से आते हुए भी अन्त में उसका समानान्तर हो जाता है।

चौथे प्रकार का प्रेम अलाउद्दीन का पदमावती के प्रति दिखाया गया है। परन्तु वह प्रेम नहीं रूप-लोभ है। जायसी ने भी उसे शैतान द्वारा प्रेरित माया (प्रवंचना) का कार्य ठहराया है। एक विवाहित स्त्री की प्राप्ति के लिए सुलतान द्वारा किया गया प्रयत्न प्रेम का कार्य

(३) राजा-सुआ संवाद खण्ड

राजै कहा सत्य कहु सूआ ।
बिनु सत जस सेंवर कर भूआ ॥
होइ मुख रात सत्य के बाता ।
जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता ॥
बाँधी सिहिट अहै सत केरी ।
लछिमी अहै सत्य कै चेरी ॥
सत्य कहत राजा जिउ जाऊ ।
पै मुख असत न भाखौं काऊ ॥
पदमावति राजा कै बारी ।
पदुम-गंध ससि बिधि औतारी ॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि रानी ।
कनक सुगंध दुआदस बानी ॥
अहैं जो पदमिनि सिंघल माहाँ ।
सुगँध रूप सब तिन्हकै छाहाँ ॥
हीरामन हौं तेहिक परेवा ।
कंठा फूट करत तेहि सेवा ॥
औ पाएउँ मानुष कै भाषा ।
नाहिं त पंखि मूठि भर पाँखा ॥
जौं लहि जिऔं राति दिन सवँरौं ओहि कर नावँ ।
मुख राता, तन हरियर दुहूँ जगत लेइ जावँ ॥१२॥
हीरामन जो कवँल बखाना ।
सुनि राजा होइ भँवर भुलाना ॥

नारी। जन्मजन्मान्तर के लिए स्वामी के चरणों में समर्पित। उसके लिए तो इसके सिवा कोई दूसरा मार्ग ही न था कि वह झरोखे में दिन रात बैठी-बैठी पथ हेरा करती, बिरह में झुरती और आँसुओं में बहती। ऐसी दशा में विरह का एक-एक पल पहाड़ होकर आता और एक-एक दिन युग बन जाता। रानी नागमती के ऊपर उन बारह महीनों का बोझ बारह मन्वन्तरों का बोझ है। उसे जायसी जैसा सहृदय कवि नजर अन्दाज कैसे कर सकता था। इसीलिए बारहमासे के रूप में कवि ने रानी की वियोग दशा को दिखाया है। प्रत्येक ऋतु-परीवर्तन का उस अबला पर क्या प्रभाव पड़ता है उसे चित्रित किया है। जो सुख के साधन थे वे दुख का घर बन गये हैं। जो शीतल प्रतीत होते थे वे दाहक हो गये हैं। उस बेचारी पर स्वामी का हो अत्याचार नहीं है सारी सृष्टि का है। प्रकृति का एक एक दृश्य, समय का एक एक क्षण और वसुधा का एक एक पदार्थ आज उसे सताने की तैयारी में लगा है। एक वह दिन भी था जब ये ही सब आनन्द विधायक थे। इनके साथ उस सौभाग्यकाल की कितनी स्मृतियाँ संलग्न हैं? वे सुनहरी रेशमी संस्मृतियाँ आज उसे और भी अधिक रुला रही है। उनकी एक एक झलक हृदय को कचोट लेती है। जायसी यदि विरहिणी की स्वाभाविक दशा का चित्रण न करते तो आज उन्हें कौन पूछता? ऐसा होने से 'पदमावत' साधारण काव्यों का अल्प जीवन पाकर काल के गाल में कभी का समा गया होता।

इसीलिए जायसी के प्रशंसक स्व० श्रीशुक्लजी ने उनके विरह वर्णन के सम्बन्ध में कहा है कि "नागमती का विरह वर्णन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात-रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु-पक्षी, पेड़-पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्यदशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगने लगते हैं, और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुःख सुनाने से भी जी हलका होगा। सब जीवों का शिरो-

अब हौं सुरुज चाँद वह छाया।
जल विनु मीन, रकत विनु काया॥
पेम सुनत मन भूल न राजा।
कठिन पेम, सिर देइ तौ छाजा॥
पेम-फाँद जो परा न छूटा।
जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा॥
जान पुछार जो भा वनवासी।
रोंव रोव परे फँद नगवासी॥
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू।
उड़ि न सकै अरुझा भा बाँदू॥
'मुयों मुयों' अहनिसि चिल्लाई।
ओही रोस नागन्ह धै खाई॥
तीतिर-गिउ जो फाँद है निति पुकारै दोख।
सो कित हँकारि फाँद गिउ (मेलै) कित मारे होइ मोख॥१४॥
राजै लीन्ह ऊबि कै साँसा।
ऐस बोल जिनि बोलु निरासा॥
भलेहि पेम है कठिन दुहेला।
दुइ जग तरा पेम जेइ खेला॥
दुख भीतर जो पेम-मधु राखा।
जग नहि मरन सहै जो चाखा॥
जो नहीं सीस पेम-पंथ लावा।
सो प्रिथिमी महँ काहे क आवा?॥
अब मैं पेम-पन्थ सिर मेला।
पाँव न ठेलु, राखि कै चेला॥
पेम-बार सो कहै जो देखा।
जो न देख, का जान बिसेखा॥

मणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा। उसकी पटरानी, जो कभी कभी बड़े-बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी। वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है, उनके सामने अपना हाथ खोल रही है। हृदय की इस व्यापक दशा का कवियों ने केवल प्रेमदशा के भीतर ही वर्णन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है। मारने के लिए शत्रु का पीछा करता हुआ क्रोधातुर मनुष्य पेड़ों और पक्षियों से यह प्रश्न हुआ कहीं नहीं गया है कि 'भाई! किधर गया?"

आगे चलकर वे कहते हैं "इस प्रकार नागमती की वियोगदशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं, पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों तक दिखाई देता है।...... इसी नागमती के विरह वर्णन के अन्तर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन अत्यन्त धर्म स्वार्थी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और कार्यों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यन्त स्निग्ध सरल, शुद्ध और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। जायसी को हम विप्रलम्भ शृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं। जो वेदना, जो कोमलता जो सरलता और जो गम्भीरता इनके वचनों में है, वह अत्यन्त दुर्लभ है।"

इसमें सन्देह नहीं कि सूफी प्रेममार्गी सन्तों की परम्परा में प्रभाव रूप से और हिन्दी साहित्य में सामान्य रूप से जायसी का विरहवर्णन एक उत्कृष्ट साहित्यिक सृष्टि है। उसमें नारीजीवन की शाश्वत भावना का सर्वजन अनुभूत चित्र है, संस्कृतियों और सभ्यताओं के साथ जो बदलनेवाला नहीं है, जो युगों के साथ पुराना होनेवाला नहीं है। कवि ने रानी नागमती को वियोग की कथा में इतना लीन कर दिया है, कि वह रानी नहीं रह गई है। वह प्रोषित पतिका सामान्य गृहिणी हो गई है। उसका सुख-दुख लोक-जीवन और लोक-हृदय का सुख-दुख हो

कनक दुवादस वानि होइ चह सोहाग वह माँग ।
सेवा करहिं नखत सब उवै गगन जस गाँग ॥१६॥

कहौं लिलार दुइज कै जोती ।
दुइजहि जोति कहाँ जग ओती ॥
सहस किरिन जो सुरुज दिपाई ।
देखि लिलार सोउ छपि जाई ॥
का सरवरि तेहि देउँ मयंकू ।
चाँद कलंकी, वह निकलंकू ॥
औ चाँदहि पुनि राहु गहासा ।
वह बिनु राहु सदा परगासा ॥
तेहि लिलार पर तिलक बईठा ।
दुइज-पाट जानहु ध्रुव दीठा ॥
भौंहैं स्याम धनुक जनु ताना ।
जा सहुँ हेर मार विप बाना ॥
हनै धुनै उन्ह भौंहनि चढ़े ।
केइ हतियार काल अस गढ़े ? ॥
उहै धनुक मैं तापहँ चीन्हा ।
धानुक आप बेझ जग कीन्हा ॥
उन्ह भौंहनि सरि केउ न जीता ।
अछरी छपीं, छपीं गोपीता ॥
भौंह धनुक, धनि धानुक, दूसर सरि न कराइ ।
गगन धनुक जो ऊगै लाजहि सो छपि जाइ ॥१७॥

नैन बाँक, सरि पूज न कोऊ ।
मानसरोदक उलथहिं दोऊ ॥
राते कँवल करहिं अलि भवाँ ।
घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ ॥

कर सकता है। इस प्रकार 'पद्मावत' एक दुःखान्त काव्य है—दुःखान्त के अलावा वह और कुछ नहीं हो सकता।

किन्तु एक दूसरा दृष्ठिकोण भी है और वह है आध्यात्मिक। संसार माया रूप है, और असत् है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है और उसी में उसका अविसान सायुज्य मोक्ष है। जब जायसी स्वयं कहते हैं कि 'मेरा यह काव्य सांसारिक दृष्टि से काव्य जरूर है पर इसका एक उद्दिष्ट संकेत भी है।' वह उद्दिष्ट संकेत आध्यात्मिक अर्थ में उसका समाहार करता है। तब पद्मावती और नागमती का रत्नसेन के शव के साथ जल जाना ही वास्तविक मिलन है। वह मिलन नित्य और शाश्वत हैं। शैतान की दुनियाँ से बाहर है। ईर्षा और द्वेष की भूमि से वह प्रेम का स्वर्ग बहुत ऊँचाई पर है, जहाँ इस जगत् का धुंवा भी शुभ्र और स्वच्छ होकर ही प्रवेश पाता है। जो पाठक काव्य के इस संकेतार्थ को हृदयंगम करने की योग्यता रखता है, उसी दृष्टि में 'पदमावत' एक सुखान्त काव्य ही है।

पद्मावत एक अन्योक्ति काव्य

अंत में जैसा जायसी ने स्वयं कहा है कि मैंने इस कथा का पंडितों से अर्थ पूछा, तो उन्होंने बताया कि हमें तो इसके अलावा और कुछ समझ नहीं पड़ता कि यह मनुष्य शरीर ही ब्रह्माण्ड है। इसी में तीन लोक चौदह भुवन की सृष्टि बसती है। इसी में भौतिक और आध्यात्मिक द्वन्द चलता रहता है। इस दृष्टि से 'पदमावत' की कथा पर विचार करने से वह सांसारिक प्रेम कहानी का आध्यात्मिक अर्थ में आरोप समझ पड़ती है। उस दशा में चित्तौर का शरीर में, रतनसेन का मन में, सिंहल का हृदय धाम में, पदमावती का बोध (चिद् रूप ब्रह्म) में, हीरामन का गुरु में आरोप करना पड़ेगा। यह आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वाले पंडितों का दृष्टि कोण है। जायसी स्वयं एक साधक थे, अतः उनका पंडितों और साधकों से संसर्ग होना

अधर सुरंग अमी-रस-भरे ।
बिंब सुरंग लाजि बन फरे ॥
हीरा लेइ सो बिद्रुम-धारा ।
बिहँसत जगत होइ उजियारा ॥
अस कै अधर अमी भरि राखे ।
अबहिं अछूत, न काहू चाखे ॥
अमी अधर अस राजा सब जग आस करेइ ।
केहि कहँ कवँल बिगासा को मधुकर रस लेइ ॥१६॥
दसन चौक बैठे जनु हीरा ।
औ बिच बिच रँग श्याम गँभीरा ॥
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी ।
चमकि उठै तस बनी बतीसी ॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं ।
हीरा-जोति सो तेहि परछाहीं ॥
जेहि दिन दसनजोति निरमई ।
बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती ।
रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी ।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी ।
पुनि ओहि जोति और को दूजी ॥
हँसत दसन अस चमके पाहन उठे छरकि ।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि ॥२०॥
रसना कहौं जो कह रस बाता ।
अमृत-बैन सुनत मन राता ॥

स्वाभाविक है। उनकी राय भी अपने काव्य पर उन्होंने ली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु पंडितों की इस पंटिताऊ सम्मति का आधार क्या है, यहाँ हमें यही देखना है? क्या सचमुच जायसी का उद्देश्य एक अन्योक्ति काव्य लिखना ही था? क्या इस लौकिक-प्रेम कथा को आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना के लिए ही उन्होंने पसन्द किया था? क्या प्रस्तुत लोकपक्ष से अप्रस्तुत परलोक पक्ष ही उन्हें अधिक वर्णनीय समझ पड़ा था, और उसी के लिए उन्होंने पदमावत का विशाल रूपक बाँधा है? अथवा वर्णनीय विषय तो था लोकपक्ष परन्तु अध्यात्मक-साधना में आनन्द पाने वाले कवि का ध्यान लोकपक्ष का वर्णन करते समय परलोक को भुला नहीं सका है?

इसके लिए 'पदमावत' में भी कवि के मुँह से हमें सुन पड़ता है कि काव्य-सृष्टि का उसका उद्देश्य क्या है—

मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा।
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई।
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल॥

इन शब्दों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि दुनियाँ में अपने बाद अपना स्मृतिचिन्ह-रूप यह काव्य छोड़ जाना कवि को अभिप्रेत था। उसकी काव्य-रचना के पीछे, अन्य कवियों की भाँति ही, कीर्ति-लोलुपता झाँक रही है। हम उसे दरगुजर नहीं कर सकते। इस अभिलाषा में उसकी साँसारिकता प्रकट है। जहाँ उसका प्रयत्न स्वान्तः सुखाय हो सकता है वहीं लोकरंजन भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं है। अतः अन्तिम अनुमान ही 'पदमावत' की रचना में काम करता मालूम पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो वह काव्य न होकर दर्शन ग्रंथ

पेट परत जनु चंदन लावा।
कुहँ कुहँ केसर बरन सुहावा॥
साम भुअंगिनि रोमावली।
नाभी निकसि कँवल कहँ चली॥
आइ दुऔ नारँग विच भई।
देखि मयूर ठमकि रहि गई॥
मलयागिरि कै पीठि सँवारी।
बेनी नागिनि चढ़ी जो कारी॥
लहरैं देति पीठि जनु चढ़ी।
चीर-ओहार केंचुली मढ़ी॥
कारे कवँल गहे मुख देखा।
ससि पाछे जनु राहु विसेखा॥
पन्नग पंकज मुख गहे खंजन तहाँ वईठ।
छत्र, सिंघासन, राज, धन ताकहँ होइ जो डीठ॥२२॥

लंक पुहुमि अस आहि न काहू।
केहरि कहौं न ओहि सरि ताहू॥
बसा लंक बरनै जग भीनी।
तेहि तें अधिक लंक वह खीनी॥
परिहँस पियर भए तेहि बसा।
लिए डंक लोगन्ह कहँ डसा॥
मानहुँ नाल खंड दुइ भए।
दुहुँ बिच लंक-तार रहि गए॥
नाभिकुंड सो मलय-समीरू।
समुद-भँवर जस भँवै गँभीरू॥
जुरे जंघ सोभा अति पाए।
केरा-खंभ फेरि जनु लाए॥

बन जाता है। जायसी दार्शनिक अभिरुचि रखने वाले संत कवि थे, पर थे वे कवि इसमें किसी को दो मत नहीं हो सकते। इसीलिए काव्य-रचना में जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिल गया है, वहाँ उसका दार्शनिक दृष्टि से विचार किये बिना वे नहीं माने हैं।

पदमावती के रूप वर्णन में वे स्वर्गीय ज्योति का वर्णन करते हैं—

प्रथम सो जोति गगन निरभई।
पुनि सो पिता माथे मनि भई॥
पुनि वह जोति मातु घट आई।
तेहि ओदर आदर बहु पाई॥

रतनसेन पदमावती को देखकर मूर्च्छित हो गया था। मूर्च्छा जाने पर वह अनुभव करता है—

आवत जग बालक अस रोवा।
उठा रोइ हा, ग्यान सो खोवा॥
हौं तौ अहा अमरपुर जहाँ।
यहाँ मरनपुर आएउ कहाँ?

बाद में वह एक स्थान पर पदमावती के प्रेम की व्यापकता की इन शब्दों में याद करता है—

परगट गुपुत सकल महँ, पूरि रहा जहँ नाँव।
जहँ देखौं तहँ ओही, दूसर नहिं जहँ नाँव॥

जब रतनसेन ने हीरामन के मुख से पदमावती का रूप वर्णन सुना तो अपने को उसका प्रेमी घोषित करने लगा। हीरामन ने उसे इन शब्दों में समझाया—

साधन सिद्धि न पाइय, जौ लगि सधै न तप्प।
सो पै जावै बापुरा, करै जो सीस कलप्प॥

का भा जोग कथन के कथे। निकसै घिउ न बिना दधि मथे॥
जौ लहि आप हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई॥

चँद्र-वदन औ चंदन-देहा ।
भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा ।
सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा ॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला ।
कर उदुपान, काँध बघछाला ॥
चला भुगुति माँगै कहँ साधि कया तप जोग ।
सिद्ध होइ पदमावति जेहि कर हिये वियोग ॥२७॥

गनक कहहिं गनि गौन न आजू ।
दिन लेइ चलहु, होइ सिध काजू ॥
पेम-पंथ दिन घरी न देखा ।
तब देखै जब होइ सरेखा ॥
चहुँ दिसि आन साँटिया फेरी ।
भै कटकाई राजा केरी ॥
रोवत माय, न बहुरत बारा ।
रतन चला, घर भा अँधियारा ॥
रोवहिं रानी, तजहिं पराना ।
नोचहिं बार, करहिं खरिहाना ॥
चूरहिं गिउ-अभरन, उर-हारा ।
अब का पर हम करब सिंगारा ? ॥
जा कहँ कहहिं रहसि कै पीऊ ।
सोइ चला, काकर यह जीऊ ॥
टूटे मन नौ मोती फूटे मन दस काँच ।
लीन्ह समेटि सब अभरन होइगा दुख कर नाच ॥२८॥

निकसा राजा सिंगी पूरी ।
छाँड़ा नगर मेलि कै धूरी ॥

तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरे घरहि माँझ दस पंथा ॥
काम, क्रोध, तिस्ना, मद, माया। पाँचौं चोर न छाँड़हिं काया ॥
नवौं सेंध तिन्ह कै दिठियारा। घर मूसहिं निसि की उजियारा ॥

इन समस्त अवतरणों में उन आध्यात्मिक अभिरुचि का परिचय मिलता है, तो भी इसमें शक नहीं कि वे काव्य ही लिख रहे हैं। अपने-अपने विचारों की छाया न आने देना उनके वश की बात नहीं है। ईश्वर प्रेम रूप है, यह विश्वास उनमें इतना गहरा है कि जहाँ भी प्रेम-चर्चा का अवसर आया है, वहाँ बिना किसी विचार के उन्होंने उसमें विश्वव्यापक शक्ति का आरोप किया है। पदमावती रतनसेन के लिए कहती है—

पिउ हिरदय महुँ भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौं केहि रोई ॥

यहाँ रतनसेन सर्वव्यापक एक ईश्वरीय सत्ता का प्रतिरूप भी हो सकता है, जिससे सायुज्य पाने के लिए पदमावती व्याकुल है। पदमावती ही क्यों नागमती भी तो उसे उसी रूप में अनुभव करती है। वह कहती है—

मिलतहुँ महँ जनु अहौं निनारे।
तुमसौं अहै अँदेश पियारे ॥
मैं जानेहु तुम मोहीं माहाँ।
देखौ ताकि तौ हौं सम पाहाँ ॥

अपने इसी दृष्टिकोण के हेतु सौंदर्य वर्णन में वे उसी ज्योतिर्मय सत्ता का आभास पाते हैं तथा घड़ियाल बजते सुनकर उन्हें मानव की क्षणभंगुरता और अनित्यता का प्रतिभादन होता है। शुक के पिंजरे से निकल कर उड़ चलने में उन्हें शरीर से प्राण पखेरू उड़ने की बात याद आ जाती है। निरभ्र अकूल आकाश में उसके उड़ कर चले जाने की बात जब वे सोचते हैं तो एक नये देश की कल्पना इस प्रकार करते हैं—

समुद अपार सरग जनु लागा।
सरग न घाल गनै बैरागा॥

दस महँ एक जाइ कोइ-करम, धरम, तप, नेम।
बोहित पार होइ जब तबहि कुसल औ खेम॥३३॥

खार समुद सो नाँघा आए समुद जहँ खीर।
मिले समुद वै सातौ बेहर बेहर नीर॥३४॥

पुनि किलकिला समुद महँ आए।
गा धीरज, देखत डर खाए॥
भा किलकिल अस उठै हिलोरा।
जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परबत कै नाईं।
फिरि आवै जोजन सौ ताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा।
सकल समुद जानहुं भा ठाढ़ा॥
हीरामन राजा सौं बोला।
एही समुद आए सत डोला॥
सिंघलदीप जो नाहिं निबाहू।
एही ठावँ साँकर सब काहू॥
एहि किलकिला समुद गँभीरू।
जेहि गुन होइ सो पावै तीरू॥

मरन जियन एही पथहि एही आस निरास।
परा सो गएउ पतारहि, तरा सो गा कैलास॥३५॥

कान समुद धँसि लीन्हेसि भा पाछे सब कोइ।
कोइ काहू न सँभारे आपनि आपनि होइ॥३६॥

कोइ दिन मिला सबेरे, कोइ आवा पछ-राति।
जा कर जस जस साजु हुत सो उतरा तेहि भाँति॥३७॥

जहाँ न राति न दिवस है, जहाँ न पौन न पानि।
तेंहि बन सुअटा चलि बसा, कौन मिलावै आनि॥

इसी भाँति सुलतान द्वारा रतनसेन के दिल्ली ले जाये जाने पर कवि दिल्ली को ऐसा अगम देश बताता जहाँ से गया हुआ कोई वापस नहीं आता—

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोई न बहुरा कहै सँदेसू॥
जो गँवनै सो तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिउ जहाँ सिधावा। जो रे गएउ सो बहुरि न आवा॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक-कथा को काव्य का रूप देते समय कवि अपनी विचारधारा को तटस्थ नहीं रख सका है। वह उसकी रचना में दूध-पानी की भाँति मिल गई है। अतः पदमावत में हम एक लौकिक प्रेम-कथा का आनन्द उठाते हैं, जहाँ उसमें काव्यरस पाते हैं, वहीं प्रणेता की जीवन-व्यापी साधना की सुगन्धि भी पाते हैं। उसमें अध्यात्म-चिंतन का एक अंतर्स्रोत बराबर बह रहा है। कहीं-कहीं वह धरातल के ऊपर भी अपनी झलक दिखा जाता है। यही कारण है कि पंडितों का ध्यान इधर गया। 'पदमावत' कोरे कवि की रचना नहीं है यह बताने के लिए ही उन्होंने उपरोक्त राय दी प्रतीत होती है। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि काव्य को एक पहेली मान लिया जाय तथा उसके अंग-प्रत्यंग को आध्यात्मिक रूपक में घटाया जाय, एवं उसके पात्रों की कड़ाई के साथ आध्यात्मिक अर्थ में संगति बैठाई जाय। काव्य के अन्त में पंडितों की सम्मति रूप जो संकेत है, उसे संकेत रूप से ही ग्रहण करना समीचीन है। पत्थर की लीक मान कर यदि काव्य का परीक्षण करेंगे तो बड़थ्वालजी के इन शब्दों को दुहराना पड़ेगा—"अन्योक्ति का सूत्र कहानी के एक से दूसरे सिरे तक बेधता नहीं चला गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों पक्ष कहानी में सर्वत्र एक रस नहीं दिखाई देते।··· आध्यात्मिक और लौकिक, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, इन दोनों में समत्व

निकसत आव किरिन-रविरेखा ।
तिमिर गए निरमल जग देखा ॥
तूँ राजा जस बिकरम आदी ।
तू हरिचंद बैन सतवादी ॥
गोपिचंद तुइ जीता जोगू ।
औ भरथरी न पूज बियोगू ॥
जीत पेम तुइँ भूमि अकासू ।
दीठि परा सिंघल-कैलासू ॥
गगन सरोवर, ससि-कँवल कुमुद-तराइन्ह पास ।
तू रवि ऊआ, भौंर होइ पौन मिला लेइ बास ॥३९॥
सो गढ़ देखु गगन तें ऊँचा ।
नैनन्ह देखा, कर न पहूँचा ॥
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी ।
औ जमकात फिरै जम केरी ॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा ।
मारा चक्र भएउ दुइ आधा ॥
चाँद सुरुज औ नखत तराईं ।
तेहि डर अँतरिख फिरहि सबाईं ॥
पौन जाइ तहँ पहुँचै चहा ।
मारा तैस लोटि भुइँ रहा ॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना ।
धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना ॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ ।
बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ ॥
रावन चहा सौंह होइ उतरि गए दस माथ ।
संकर धरा लिलाट भुइँ, और को जोगीनाथ ? ॥४०॥

बनाये रखना जायसी के बूते का काम नहीं।............इसके अतिरिक्त प्रतीक की एक रूपता का भी जायसी ने एकरस निर्वाह नहीं किया है। एक वस्तु को एक ही वस्तु का प्रतीक नहीं माना है।" परन्तु हमने ऊपर कहा है कि यह सवाल तो तभी उठता है जब हम उपरोक्त कथन को पत्थर की लीक मान कर चलें। पर ऐसा करने से हम कवि जायसी के साथ अन्याय करेंगे। 'पद्मावत' के पाठक का मुख्य उद्देश्य तो कथा और काव्य का आनन्द लेना होना चाहिए, यदि इसके अतिरिक्त उसकी आध्यात्मिक परितुष्टि की सामग्री भी उसमें मिल जाती है तो उसके लिए उसे कवि को साधुवाद देना चाहिए। शर्बत में गुलाब की सुगन्धि तो डाल देते हैं पर उससे उसकी परख गुलाब के इत्र की तरह नहीं की जाती, और यदि कोई करने लगे तो उसे निराश होना ही पड़ेगा। अतः दोनों पक्षों का मेल ठीक न बैठाने के लिए जो जायसी के आलोचकों को उनसे शिकायत है, मेरी समझ में वह व्यर्थ है। बिंब प्रतिबिंब भाव देने के चक्कर में न पड़ कर जायसी ने अपने काव्य को काव्य रहने दिया है, यही काव्योचित हुआ है।

प्रेम-मार्गी शाखा के अन्य कवि और उनके काव्य तथा पदमावत का उनमें स्थान

भारतीय सूफी परंपरा की एक अटूट शृङ्खला कई दिनों तक हिन्दी साहित्य को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती रही है। जब हिन्दू-मुस्लिम संपर्क पुराना हो चुका था, तो कोई कारण नहीं था, कि वे एक दूसरे की बोली में न बोलते, एक दूसरे के राग में न गाते। वे बिल्कुल स्वाभाविक उद्गार थे, जिन्हें इन सूफी सन्तों ने भाषा में प्रकट किया। हिन्दी उनके लिए विभाषा नहीं रह गई थी। भारतीय आदर्श उनके अपने आदर्श हो चुके थे। उन्हें कुछ तलवार तो चलानी नहीं थी। अध्यात्म-प्रेम की चरचा करनी थी। इसलिए उन्होंने अपनी आवश्यकता के अनुकूल जहाँ भी मसाला पाया वहीं से चुन लिया। उन्होंने अपनी इस अनमोल कृतियों की रचना में सच्ची मधुप-वृत्ति का परिचय दिया

(१) पदमावती-वियोग-खण्ड

पदमावति तेहि जोग सँजोगा ।
परी पेम-बस गहे वियोगा ॥
नींद न परै रैनि जौं आवा ।
सेज केंवाच जानु कोइ लावा ॥
दहै चंद औ चंदन चीरू ।
दगध करै तन बिरह गँभीरू ॥
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी ।
तिलतिल भर जुग जुग जिमि गाढ़ी ॥
गहै बीन मकु रैनि बिहाई ।
ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई ॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै ।
ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै ॥
कहँ वह भौंर कँवल रस-लेवा ।
आइ परै होइ घिरिन परेवा ॥
से धनि बिरह-पतंग भइ, जरा चहै तेहि दीप ॥
कंत न आव भिरिंग होइ, का चंदन तन लीप ? ॥१॥

परी बिरह बन जानहुँ घेरी ।
अगम असूझ जहाँ लगि हेरी ॥
चतुर दिसा चितवै जनु भूली ।
सो बन कहँ जहँ मालति फूली ? ॥
कँवल भौंर ओही बन पावै ।
को मिलाइ तन-तपनि बुझावै ? ॥

है। इनमें सर्व प्रथम मृगावती के रचयिता कुतुबन का नाम आता है। उसके बाद 'मधुमालती' के कवि मंझन उल्लेख्य हैं। तीसरे प्रमुख कवि स्वयं जायसी हैं। इनके बाद 'चित्रावली' के प्रणेता उसमान तथा 'इन्द्रावती' के रचयिता नूर मुहम्मद हैं। नूर मुहम्मद तक पहुँचते पहुँचते हिन्दी से मुसलमानों का रुख फिरता हुआ देखते हैं। इससे पहले इस प्रकार का कोई भाव न था। खैर, इस प्रेम-काव्य परंपरा में जायसी बीच की श्रृङ्खला है। इन तक आते-आते उत्कर्ष अपनी चरमता को पहुँच जाता है। उसके बाद अपकर्ष काल का आरंभ हो जाता है। किन्तु संपूर्ण धारा में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो हस्तान्तरित होने पर भी सुरक्षित रही हैं। इन कवियों में सभी सूफी मुसलमान थे। उनका धार्मिक विश्वास अहले इस्लाम पर था, तो भी उन्होंने भारतीय जीवन में अपने आदर्श की खोज की। कथानक प्रायः सब हिन्दू लिए या कल्पित किये। सबने थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ दोहे चौपाइयों की छंद-योजना स्वीकार की। सब से बड़ी बात काव्य के नायक की एक स्त्री और एक प्रेमिका इस प्रकार दो स्त्रियाँ होना है। हम पहले एक स्थान पर लिख चुके हैं कि यह भारतीय आदर्श नहीं हो सकता। यह इस्लामी शरियत से अनुमोदित तथा उसी के जीवन से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। इस कल्पना को परंपरा का रूप देने में संभव है इन कवियों को प्रेम की अतिशयता, अनन्यता, गंभीरता तथा एकरसता दिखाना इष्ट रहा हो। इनके कथानकों का ढाँचा भी पूर्णतया मौलिक नहीं है, वह भी परंपरा संबद्ध है। स्वयं जायसी जैसे महाकवि के काव्य का कथानक उनके पूर्ववर्ती कुतुबन और मंझन के 'मृगावती' तथा 'मधुमालती' से थोड़ा बहुत मिल जाता है। केवल मिल ही नहीं जाता है, बल्कि यह मानने के लिए विवश करता है कि पदमावत की कथा के अंगों का विकास कहाँ से हुआ है।

मृगावती की कहानी का सारांश यह है,—चंद्रगिरि के राजा गनपतिदेव का बेटा कंचननगर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती

(२) पद्मावती-सुआ-भेंट-खण्ड

तेहि बियोग हीरामन आवा।
पद्मावति जानहुँ जिउ पावा॥
कंठ लाइ सूआ सौं रोई।
अधिक मोह जौं मिलै बिछोई॥
आगि उठे दुख हिये गँभीरू।
नैनहिं आइ चुवा होइ नीरू॥
रही रोइ जब पदमिनि रानी।
हँसि पूछहिं सब सखी सयानी॥
मिले रहस भा चाहिय दूना।
कित रोइय जौं मिलै बिछूना ?॥
तेहि के उतर पद्मावति कहा।
बिछुरन-दुख जो हिये भरि रहा॥
मिलत हिये आएउ सुख भरा।
वह दुख नैन-नीर होइ ढरा॥

बिछुरंता जब भेंटै सो जानै जेहि नेह।
सुक्ख सुहेला उग्गवै दुःख झरै जिमि मेह॥४॥

पुनि रानी हँसि कूसल पूछा।
कित गवनेहु पींजर कै छूँछा॥
रानी तुम्ह जुग जुग सुख पाटू।
छाज न पंखिहि पींजर-ठाटू॥
जब भा पंख कहाँ थिर रहना।
चाहै उड़ा पंखि जौं डहना॥
पींजर महँ जो परेवा घेरा।
आइ मजारि कीन्ह तहँ फेरा॥

पर मोहित हुआ। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट झेलकर राजकुमार उसके पास गया पर एक दिन मृगावती कहीं उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज में योगी होकर चल पड़ा। समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँचकर उसने रुकमनी नाम की एक सुन्दरी का उद्धार किया। उस सुन्दरी के पिता ने राजकुमार के ही साथ उसका विवाह कर दिया। इधर मृगावती का पिता मर चुका था और मृगावती उसके सिंहासन पर बैठकर राज कर रही थी। रुकमनी को पिता के घर छोड़कर राजकुमार वहाँ पहुँचा, और बारह साल तक मृगावती के यहाँ रहा। अंत में उसके पिता का संदेशा आया तब वह मृगावती के साथ घर की ओर चला। मार्ग में से रुकमनी को भी साथ ले लिया। घर आकर वह बहुत दिन तक आनन्द से रहा पर अंत में एक बार आखेट के समय हाथी से गिरकर मर गया। उसकी दोनों प्यारी रानियाँ उसके साथ सती हो गईं।

अब मधुमालती की कथा का सार देखिये,—कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर को, जब वह सो रहा था, अप्सराएँ उठा ले गईं और ले जाकर महारस की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में छोड़ दिया। वे दोनों मिले। प्रेमालाप हुआ। दोनों सो गये। उसी समय अप्सराओं ने राजकुमार को उसके घर वापस पहुँचा दिया। परन्तु राजकुमार मधुमालती के प्रेम में दीवाना हो गया और योगी बनकर निकल पड़ा। जब वह सागर पार करके जा रहा था तभी तूफान आ गया और वह अकेला एक पटरे पर बह गया। पटरा एक जंगल के तट पर जाकर लगा, जहाँ एक सुन्दरी पलंग पर लेटी दिखाई दी। वह चितविसरामपुर के राजा की बेटी प्रेमा थी। उसे एक राक्षस हरण करके ले आया था। कुमार ने राक्षस को मारकर प्रेमा का उद्धार किया। प्रेमा के पिता ने दोनों का ब्याह कर देना तय किया पर प्रेमा ने कहा कि मनोहर मेरा भाई है। मैं उसकी प्रेयसी अपनी सखी मधुमालती से उसे मिलाऊँगी। इसके बाद मधुमालती से उसका मिलन होता और

जस सूरुज देखे होइ ओपा ।
तस भा बिरह, कामदल कोपा ॥
सुनि कै जोगी केर बखानू ।
पदमावति मन भी अभिमानू ॥
कंचन करी न काँचहिं लोभा ।
जौं नग होइ पाव तब सोभा ॥
कंचन जौं कसिए कै ताता ।
तब जानिय दहुँ पीत कि राता ॥
नग कर मरम सो जड़िया जाना ।
जड़ै जो अस नग देखि बखाना ॥
को अब हाथ सिंघ मुख घालै ।
को यह बात पिता सौं चालै ॥
सरग इंद्र डरि काँपै बासुकि डरै पतार ।
कहाँ सो अस बर प्रिथिमी मोहिं जोग संसार ॥७॥

तू रानी ससि कंचन-करा ।
वह नग रतन सूर निरमरा ॥
बिरह-बजागि बीच का कोई ।
आगि जो छुवै जाइ जरि सोई ॥
आगि बुझाइ परे जल गाढ़ै ।
वह न बुझाइ आपु ही बाढ़ै ॥
बिरह के आगि सूर जरि काँपा ।
रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ॥
सुनि कै धनि, 'जारी अस कया' ।
तव भा मयन, हिये भै मया ॥
देखौं जाइ जरै कस भानू ।
कंचन जरे अधिक होइ बानू ॥

मिलन के बाद शीघ्र ही विछोह हो जाता है और एक बार फिर राजकुमार को मधुमालती के वियोग में योगी बनकर घूमना पड़ता है। अंत में बड़ी कठिन और विचित्र घटनाओं के उपरान्त उनका पुनः मिलन होता है।

इस कथा में भारतीय आदर्श की छाप है। एक बार प्रेमा मनोहर को भाई कहकर उसके साथ विवाह करने से इनकार करती है। उसी भाँति आगे कथा में एक दूसरे राजकुमार ताराचंद का नाम आता है जो मधुमालती को बहन कहकर उसे उपभोग्य नहीं मानता। शेष जितनी कथायें इस परंपरा में हैं, उनमें यह बात नहीं मिलती।

इस परंपरा के परवर्ती प्रेमाख्यानों में भी लगभग इसी प्रकार का कथा-विन्यास है। मालूम पड़ता है इन कथाकारों का उद्देश्य कथानक को मौलिक बनाना उतना नहीं था जितना प्रेम की पीड़ा को प्रदर्शित करना और उसके द्वारा जीव और परमात्मा के प्रेम-संबंध की ओर सकेत करना। अप्रस्तुत की व्यंजना ही उनका प्रधान लक्ष्य होने से प्रस्तुत की विशेष चिन्ता उनसे नहीं बन पड़ी है। इन समस्त संतों में जायसी सब से अधिक प्रतिभाशाली, मर्मज्ञ और सहृदय थे अतः उन्होंने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का बड़ा सुन्दर विधान और बहुत उपयुक्त समाहार किया है। वे इस काव्य धारा के मध्याह्न सूर्य थे। अपने प्रकाश से वे दिवस के हृदय को तो आलोकित कर ही गये, आने वाली संध्या की झोली में भी कंचन की अनमोल भेंट डाल गये।

अलंकार-योजना

काव्य के लिए अलंकार अनिवार्य नहीं है परन्तु जो कवि है उसका आलंकारिक होना अनिवार्य है। सच्चा कवि बात को किसी न किसी सुन्दर ढंग से ही कहेगा। बात कहने की यह चमत्कारपूर्ण शैली ही तो अलंकार है। कवि होने के नाते जायसी को भी अलंकार योजना में प्रवृत्त होना पड़ा है—ज्ञात और अज्ञात रूप से। ज्ञात रूप से कहने

सबद, एक उन्ह कहा अकेला ।
गुरु जस भिंगु, फनिग जस चेला ॥
भिंगी ओहि पाँखि पै लेई ।
एकहि बार छीनि जिउ देई ॥
ताकहँ गुरू करै असि माया ।
नव औतार देइ, नव काया ॥
होइ अमर जो मरि कै जीया ।
भौंर कवँल मिलि कै मधु पीया ॥
आवै ऋतू बसंत जब तब मधुकर, तब बासु ।
जोगी जोग जो इमि करै सिद्धि समापत तासु ॥१०॥

---

(३) बसंत-खण्ड

देउ देउ कै सो ऋतु गँवाई ।
सिरी-पंचमी पहुँची आई ॥
भएउ हुलास नवल ऋतु माहाँ ।
खिन न सोहाइ धूप औ छाहाँ ॥
पदमावति सब सखी हँकारी ।
जावत सिंघलदीप कै बारी ॥
आजु बसंत नवल ऋतुराजा ।
पंचमि होइ, जगत सब साजा ॥
नवल सिंगार बनस्पति कीन्हा ।
सीस परासहि सेंदुर दीन्हा ॥
बिगसि फूल फूले बहु बासा ।
भौंर आइ लुबुधे चहुँ पासा ॥
पियर-पात-दुख झरे निपाते ।
सुख-पल्लव उपने होइ राते ॥

का तात्पर्य यह है कि जायसी अधिकतर काव्य-परंपरा के अनुसार चले हैं। उनके वर्णन प्रायः भाषा-काव्य की प्रचलित परंपरा के भीतर ही हैं, अतः उनमें बँधे बँधाये अलंकारों का तो प्रचुर विधान है ही। रूप और नखशिख वर्णन में इसी प्रकार के अलंकारों की भरमार है। वहाँ जानबूझ कर कवि ने उनकी योजना की है। ऐसे स्थलों पर उन्हें अलंकारों की लड़ी पिरोते हुए देखकर इस युग का पाठक कुछ क्षुब्ध हो उठता है, उसका धैर्य विचलित हो जाता है, परन्तु प्राचीन काव्य परंपरा से परिचित होने पर जायसी उसे क्षम्य प्रतीत होते हैं। वे अपने समय के कवि-समुदाय के बीच रहते हुए जान पड़ते हैं। वे कहते हैं—

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं।
कंचन देखि कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी॥
तेहि पर पूरि धरे जो मोती। जमुना माँझ गंग कै सोती॥
कहौं लिलार दुइज कै जोती। दुइजइ जोति कहाँ जग ओती॥
भौहैं स्याम धनुक जनु ताना। जा सहुँ हेर मार विष-बाना॥
नैन बाँक सरि पूज न कोऊ। मानसरोदक उलथहिं दोऊ॥
बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ धनी॥
नासिक देखि लजानेउ सूआ। सूक आइ बेसरि होइ ऊआ॥
अधर सुरंग अमीरस-भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे॥
जस भादौं निसि दामिनि दीसी। चमकि उठै तस बनीं बतीसी॥
हरे सो सुर चातक कोकिला। बिनु बसंत यह बैन न मिला॥
पुनि बरनौं का सुरंग कपोला। एक नारंग दुइ किए अमोला॥
स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुंडल कनक रचे उजियारे॥
बरनौं गीउ कंबु कै रीसी। कंचन-तार-लागि जनु सीसी॥
कनक-दंड दुइ भुजा कलाई। जानौं फेरि कुंदेरै भाई। इत्यादि।

इस परंपराभुक्त अलंकार-योजना में भी कवि के सामर्थ्य की परख हो जाती है। जायसी के ऐसे वर्णन भी किसी से कम नहीं हैं। वे उत्कृष्ट कोटि के वर्णनों के साथ रक्खे जा सकते हैं।

और कहिय जो बाजन भले ।
भाँति भाँति सब बाजत चले ॥
नवल बसंत, नवल सब बारी ।
सेंदुर बुक्का होइ धमारी ॥
खिनहिं चलहिं, खिन चाँचरि होई ।
नाच कूद भूला सब कोई ॥

सेंदुर-खेह उड़ा अस, गगन भएउ सब रात ।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछन्ह पात ॥१३॥

एहि बिधि खेलति सिंघलरानी ।
महादेव-मढ़ जाइ तुलानी ॥
पदमावति गै देव–दुवारा ।
भीतर मँडप कीन्ह पैसारा ॥
एक जोहार कीन्ह औ दूजा ।
तिसरे आइ चढ़ाएसि पूजा ॥
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा ।
चंदन अगर देव नहवावा ॥
लेइ सेंदुर आगे भै खरी ।
परसि देव पुनि पायन्ह परी ॥
और सहेली सबै बियाहीं ।
मो कहँ देव ! कतहुँ बर नाहीं ॥
हौं निरगुन जेइ कीन्ह न सेवा ।
गुनि निरगुनि दाता तुम्ह, देवा ॥

बर सौं जोग मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि ।
जेहि दिन हीछाँ पूजै बेगि चढ़ावहुँ आनि ॥१४॥

ततखन एक सखी बिहँसानी ।
कौतुक आइ न देखहु रानी ॥

अज्ञातरूप से अलंकार योजना में प्रवृत्ति उनमें हम वहाँ कहेंगे जहाँ कवि परंपरा के अनुसरण का ध्यान उन्हें नहीं है। जहाँ झूठे उपमानों को बटोरने में वे नहीं लगे हैं और भाव-व्यंजना की ओर ही उनकी प्रवृत्ति है परन्तु तो भी जहाँ शैली की स्वाभाविकता में ही अलंकारों का समावेश हो गया है। ऐसे स्थलों पर अलौकिक चमत्कार के साथ रमणीय भाव-व्यंजना सोने में सुहागे का काम दे गई है। उनमें भावार्थ का प्रसार बहुत व्यापक और प्रभावकारी हो गया है—जैसे :—

मिलिहहिं बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहन्त।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहन्त॥

कहना नहीं होगा कि जायसी में अपने भावों में डूब जाने की अद्भुत प्रवृत्ति है, इसलिए इस प्रकार के भावयोग का उनमें प्राचुर्य है। उससे अभिषिक्त उनकी अलंकार योजना बड़ी प्रभावक और मीठी है। काव्य में प्रायः सर्वत्र ही उसकी झलक पाठक को मिल जाती है।

यों तो जायसी में अनेक अलंकारों का विधान है पर कुछ ऐसे भी हैं जिनमें उनकी चित्तवृत्ति अधिक रमती है, जैसे उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति। तुलसी को उपमा का और सूर को रूपक का कवि कहें तो जायसी को उत्प्रेक्षा का कवि कहने में कोई दोष न होगा। सचमुच ही अपनी उत्प्रेक्षाओं की हेतु-कल्पना में जायसी ने दृश्य और अदृश्य जगत में से किसी को छोड़ा नहीं है। उनका 'पद्मावत' स्वयं ही प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति का एक सुन्दर प्रयास है। एक बात और है, अलंकार योजना में जायसी की सादृश्य मूलक अलंकारों की ओर जितनी रुचि है उतनी असादृश्य मूलक अलंकारों की ओर नहीं। कहीं-कहीं इनकी अलंकार-योजना अप्रसिद्ध उपमानों के कारण दुर्बोध भी हो गई है, परन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

किंगरी गहे जो हुत बैरागी ।
मरतिहु बार उहै धुनि लागी ॥
जेहि धंधा (जाकर) मन लागै सपनेहु सूझ सों धंध ।
तेहि कारन (तपसी) तप साधहिं, करहिं पेम मन बंध ॥१६॥

पदमावति जस सुना बखानू ।
सहस-करा देखेसि तस भानू ॥
मेलेसि चंदन मकु खिन जागा ।
अधिकौ सूत, सीर तन लागा ॥
तब चंदन आखर हिय लिखे ।
भीख लेइ तुइँ जोग न सिखे ॥
घरी आइ तब गा तूँ सोई ।
कैसे भुगुति परापति होई ? ॥
अब जौं सूर अहौ ससि राता ।
आएहु चढ़ि सो गगन पुनि साता ॥
कीन्ह पयान सबन्ह रथ हाँका ।
परवत छाँड़ि सिंघलगढ़ ताका ॥
बलि भए सबै देवता बली ।
हत्यारिन हत्या लेइ चली ॥
परो कया भुइँ लोटै, कहाँ रे जिउ बलि भोउँ ।
को उठाइ बैठारै बाज पियारे जीउ ॥१७॥

---

(४) राजा-रत्नसेन सती-खण्ड

कै बसंत पदमावति गई ।
राजहि तब बसंत सुधि भई ॥

जायसी की भाषा

जायसी की भाषा अवधी है। इस भाषा का प्रयोग जायसी से पूर्व भी कवियों द्वारा हो चुका था। जायसी ने अपने काव्य में उसके ठेठ रूप को ग्रहण किया है। उनकी भाषा को परिमार्जित या साहित्यिक भाषा नहीं कह सकते। भाषा संस्कार की ओर उन्होंने ध्यान कम दिया है। उन्होंने चरित्र काव्य की जिस शैली का अनुकरण किया वह निकट अतीत से तो संबद्ध है ही उसकी शृङ्खला दूर अतीत से चली आती है। अपभ्रंश और आदि हिन्दी के वीरगाथा काव्यों से उसका संसर्ग अभी छूटा नहीं है। इस चरित-काव्य की पद्धति का बीज वहीं से प्राप्त हुआ है। जायसी तथा इस परम्परा के अन्य कवियों के काव्य में प्रयुक्त शब्दों के अपभ्रंश रूप इस बात के साक्षी हैं कि चरितकाव्य की इस परम्परा का सम्बन्ध बिलकुल विदेशी मसनवी से नहीं बल्कि इसी देशी शैली (रासो शैली) से है। चरणों की डिंगल के स्थान पर यहाँ अवधी भाषा स्वीकार की गई है, यह अन्तर देशकाल का है।

जायसी की यह विशेषता है कि बोल चाल की सीधी सादी ठेठ अवधी में उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। बड़े-बड़े समास उसमें कहीं न मिलेंगे। यदि कहीं समस्त-पद हैं तो बहुत छोटे-छोटे। परन्तु उनकी भाषा अत्यन्त मधुर है। बेमेल भाषा की सरसता अगर देखनी हो तो जायसी में देखिये। यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस लोक-भाषा पर उन्हें कितना व्यापक अधिकार था; उनके ग्रंथों में गहन से गहन और गूढ़ से गूढ़ विचार-संकेत मिलते हैं। भावों और व्यापारों की सूक्ष्म-व्यञ्जना में वे किसी से पीछे नहीं हैं, उन्होंने प्रथम श्रेणी के कवियों की प्रतिभा का सर्वत्र परिचय किया है, परन्तु भाषा का वही ठेठ रूप रक्खा है। इस प्रयत्न के द्वारा वे हमें इस युक्ति पर विश्वास करने को कहते हैं, कि 'उक्ति अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होइ।'

उनकी भाषा में कहीं-कहीं फारसी शब्दों का व्योहार हुआ है, और जहाँ-तहाँ उसमें व्याकरण के अनुसार समासों की भी रचना हुई है।

पाहन सेवा कहाँ पसीजा ?।
जनम न ओद होइ जौ भीजा ॥
बाउर सोइ जो पाहन पूजा ।
सकत को भारलेइ सिर दूजा ? ॥

सिंघ तरेंदा जेई गहा पार भए तेहि साथ ।
ते पै बूड़े बाउरे भेंड-पूँछि जिन्ह हाथ ॥१६॥

आनहिं दोस देहुं का काहू ।
संगी कया मया नहिं ताहु ॥
हता पियारा मीत बिछोई ।
साथ न लाग आपु गै सोई ॥
का मैं कीन्ह जो काया पोषी ।
दूषन मोहिं, आप निरदोषी ॥
फागु बसंत खेलि गई गोरी ।
मोहि तन लाइ बिरह कै होरी ॥
अब अस कहाँ छार सिर मेलौं ?।
छार जो होहुं फाग तब खेलौं ॥
कित तप कीन्ह छाँड़ि कै राजू।
गएउ अहार न भा सिध काजू ॥
पाएउँ नहि होइ जोगी जती ।
अब सर चढ़ौं जरौं जस सती ॥

आइ जो पीतम फिरि गा मिला न आइ बसंत ।
अब तन होरी घालि कै जारि करौं भसमंत ॥०२॥

हनुवँत वीर लंक जेहि जारी ।
परवत उहै अहा रखवारी ॥
बैठि तहाँ होइ लंका ताका ।
छठएँ मास देइ उठि हाँका ॥

परन्तु भाषा के ठेठ रूप पर ही मुख्यतः आश्रित रहने के कारण उनका वाक्य-विन्यास सुसंबद्ध और स्वच्छ नहीं है। उसमें जहाँ-तहाँ शिथिलता और दोष रह गये हैं। जायसी को देश-देशान्तर की भाषाओं और बोलियों का भी परिचय प्रतीत होता है। वह उनके भ्रमणशील होने का परिचायक है। इनका असर भी उनकी वाणी पर पड़ा है। जायसी संस्कृत साहित्य के पण्डित नहीं थे परन्तु भाषा साहित्य का भण्डार उनका देखा भाला था। इसीलिए जहाँ उनमें प्रान्तीय प्रयोग मिलते हैं वहीं प्राचीन रूप भी मिल जाते हैं। इसलिए कभी-कभी भाषा की एकरूपता नष्ट होती प्रतीत होती है, और उसमें एक प्रकार की अव्यवस्था भी दीखती है। यह सब हुआ है उनमें भाषा-सम्बन्धी परिमार्जित रुचि के अभाव के कारण।

प्रत्येक भाषा और बोली में चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ, मुहाविरे और कहावतें प्रयोग में आये बिना नहीं रहते। जहाँ वे एक ओर भाषा के सौष्ठव में योग देते हैं वहाँ थोड़े में बहुत अर्थ की उन्नति कराते हैं। वाक्चातुर्य और वाक्विदग्धता के प्रदर्शन के लिए कवि लोग इनका उपयोग करते हैं। जायसी में इनका प्रयोग तो मिलता है पर ऐसा मालूम पड़ता है कि भाषा के स्वाभाविक-विस्तार में अनायास उनका प्रयोग हो गया है। कवि ने जानबूझ कर केवल भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उन्हें नहीं दिया है। जायसी के ऐसे अधिकांश प्रयोगों में उनकी रसात्मकता और भावुकता का ही अधिक परिचय मिलता है। ऐसे स्थलों पर उनका वाक्छल प्रायः गौण रह जाता है और रसज्ञता एवं भावज्ञता प्रमुख हो उठती है। इसीलिए हमें कहना पड़ता है कि जायसी जितने भावों में डूबे हुए थे उतने भाषा में सतर्क नहीं थे। इसी से उनकी भाषा चमत्कारपूर्ण जितनी नहीं है उतनी रसवन्ती है। देखिये—

(?) *'मुहम्मद' जीवन जल भरन, रहँट घरी कै रीति।*
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥

अबतहि कहेन्हि न लावहु आगी।
तेहि कै सपथ जरहु जेहि लागी॥
जरै देहु, दुख जरौं अपारा।
निस्तर पाइ जाउँ एक बारा॥
तैं यह जिउ डाढ़े पर दाधा।
आधा निकसि रहा, घट आधा॥
जो अजधर सो बिलँब न लावा।
करत बिलंब बहुत दुख पावा॥

एतना बोल कहत मुख उठी बिरह कै आगि।
जौं महेस न बुझावत जाति सकल जग लागि॥२२॥

पारवती मन उपना चाऊ।
देखौं कुँवर केर सत भाऊ॥
ओहि एहि बीच, कि पेमहि पूजा।
तन मन एक, कि मारग दूजा॥
भइ सुरूप जानहुँ अपछरा।
बिहँसि कुँवर कर आँचर धरा॥
सुनहु कुँवर मो सौं एक बाता।
जस मोहिं रंग न औरहि राता॥
औ बिधि रूप दीन्ह है तोका।
उठा सो सबद जाइ सिव-लोका॥
तब हौं तोपहँ इंद्र पठाई।
गइ पदमिनि, तैं अछरी पाई॥
अब तजु जरन, मरन, तप, जोगू।
मोसौं मानु जनम भरि भोगू॥

हौं अछरी कैलास कै जेहि सरि पूज न कोइ।
मोहि तजि सँवरि जो ओहि मरसि, कौन लाभ तोहि होइ?॥२३॥

(२) काह हँसौ तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेंह॥
(३) 'मुहमद' बिरिध जो नइ चलै, काह चलै भुइँ टोइ।
जोबन रतन हिरान है, मकु धरती महँ होइ॥
(४) बिरिध जो सीस डुलावै, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी आऊ होउ तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस॥
(५) माटी मोल न किछु लहै, औ माटी सब मोल।
दिस्टि जो माटी सौं करै, माटी होय अमोल॥
(६) भोर होइ जौ लागै, उठहिं रोर कै काग।
मसि छूटै सब रैन कै, कागहिं केर अभाग॥
(७) मुहमद चिनगी पेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिनि समाइ॥
(८) पानी महँ जस बुल्ला, तस यह जग उतिराइ।
एकहि आवत देखिए, एकहि जात बिलाइ॥
(९) नवरस गुरु पहँ भीज, गुरुप्रसाद सो पिउ मिलै।
जामि उठै सो बीज, मुहमद सोई सहस बुँद॥
(१०) गलि सरि साटी होइ, लिखनेहारा बापुरा।
जौ न मिटावै कोइ, लिखा रहै बहुतै दिना॥

दृष्टान्त रूप से ऊपर जो छन्द लिखे गये हैं उनसे मालूम प
है कि कविवर जायसी की सूक्तियाँ कोरी भाषा की कलाबाजी नहीं
रस और भाव की चाशनी में डूबी हुई हैं। भाषा के ठेठ रूप में
और अर्थ शक्ति का इतना चमत्कार उनके सिवा और कहाँ है?
अनुभूति का आनंद देने वाली ऐसी सूक्तियां का भंडार जायसी
है, जो उनके भाषा-तत्वविद् होने का प्रमाण चाहे न हो, पर
सीधी भाषा में अपने हृदय रस को निचोड़ कर उसे हृदयग्रा

दसवँ दुवार गुपुत एक ताका ।
अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका ॥
भेदै जाइ कोइ ओहि घाटी ।
जो लह भेद चढ़ै होइ चाँटी ॥

जस मरजिया समुद धँस हाथ आव तब सीप ।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंघलदीप ॥२५॥

उपसंहार

प्रेम-मार्गी सूफी कवियों ने विश्व-साहित्य को बहुत कुछ दिया है। जीवन की साधना और आराधना से ऊपर अध्यात्म प्रेम की पीड़ा से जिनका हृदय व्याकुल हो उठता है वे सजीव और प्राणमय उद्गार संसार को दे जाते हैं, उनसे जीवन-मरुस्थल चिरकाल तक हरा-भरा रहता है। इस्लामी सभ्यता के रक्त-रंजित इतिहास में सूफीमत एक ऐसा ही है, जिसने अध्यात्म प्रेम की मानिक मदिरा से अपने होठों को लाल किया था और उसके मद में मतवाला बनकर एक अपूर्व संगीत कानों में डाल दिया था।

अरब और फारस से भारत का संबंध होने पर यह कब संभव था कि भारत के पल्ले में सिर्फ विष ही विष पड़ता और इस्लाम के लिए अमृत रह जाता। महमूद गजनवी के साथ सूफी संतों का समागम भी अवश्यम्भावी था। तलवार, रक्तपात एवं धार्मिक विध्वंस के साथ प्रेम और मस्ती के तराने भी यहाँ आने से रुक नहीं सकते थे, न रुके ही। राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में अरब और भारत गले नहीं मिल सके पर प्रेम और साहित्य क्षेत्र में वे आलिंगन-पाश में बँध गये। सूफी मतावलंबी जायसी में हम हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक कंठ से गाते हुए पाते हैं। उनमें कितना अंश हिन्दू है, कितना मुसलमान, इसका विश्लेषण करने चलें तो उसमें दोनों का सौंदर्य नष्ट हो जायगा। जायसी को जिन्होंने पढ़ा है वे देख चुके होंगे कि वे सर्वथा भारतीय सूफी बन चुके थे। फ़ारसी सूफ़ी होकर वे कभी 'पद्मावत' की रचना न करते। उन जैसे प्रतिभाशाली के लिए कथानकों की क्या कमी थी? भाषा और छन्द की ऐसी कड़ी बाधा न थी जिसे वे पार न कर सकते पर उनके सामने वह संकुचित दृष्टि न थी। वे भारतवर्ष में पाकिस्तान की कल्पना करने वाली दुनियाँ में न बसते थे। उन्होंने अपने स्वाभाविक रूप में अपने भावों का संगीत गाया है। उनके संगीत में उनके हृदय

पदमावति राजा कै बारी ।
हौं जोगी ओहि लागि भिखारी ॥
खप्पर लेइ बार भा माँगौं ।
भुगुति देइ, लेइ मारग लागौं ॥
जोगी बार आव सो जेहि भिच्छा कै आस ।
जो निरास दिढ़ आसन कित गौनै केहु पास ?"॥२॥

सुनि बसीठ मन उपनी रीसा ।
जौ पीसत घुन जाइहि पीसा ॥
जोगी अस कहुँ कहै न कोई ।
सो कहु बात जोग जो होई ॥
आगे देखि पांव धरु, नाथा ।
तहाँ न हेरु टूट जहँ माथा ॥
बसिठन्ह जाइ कही अस बाता ।
राजा सुनत कोइ भा राता ॥
ठावहि ठाँव कुँवर सब माखे ।
केइ अब लीन्ह जोग, केइ राखे ? ॥
मंत्रिन्ह कहा रहौ मन बूझे ।
पति न होइ जोगिन्ह सौं जूझे ॥
ओहि मारे तौ काह भिखारी ।
लाज होइ जौं माना हारी ॥
आछै देहु जो गढ़ तरे, जनि चालहु यह बात ।
तहँ जो पाहन भख करहिं अस केहिके मुख दाँत ?॥३॥

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए ।
राजै कहा बहुत दिन लाए ॥
न जनौं सरग बात दहुँ काहा ।
काहु न आइ कही फिरि चाहा ॥

ग्रौर उनकी ग्रात्मा की झलक है। उनकी तीव्र ग्रनुभूति उनके काव्य में सभी बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके व्याप्त हो रही है, इसलिए प्रबन्ध-काव्य होकर भी पद्मावत भाव-प्रधान काव्य है। जायसी ने भाव पत्त पर विशेष बल दिया है। सीधी-सादी ग्रामीण भाषा ग्रौर सरल सुबोध छन्द को चुनकर उन्होंने यह बता दिया है कि कला ग्रौर कवित्व कवि में रहते हैं। वह किसी भी सामग्री से ग्रपनी प्रतिभा के द्वारा क्रान्तदर्शी साहित्य की सृष्टि कर सकता है।

पद्मावत जैसे रत्न का प्रादुर्भाव करके हिन्दी-साहित्य को जायसी ने सूफ़ी सम्प्रदाय का चिरऋणी बना लिया है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना में कई बातों में इसी ग्रंथ को ग्रपने दृष्टि-पथ में रखा है। काव्य टेकनीक के दो चार दोषों के रहते हुए भी पद्मावत संत कवि जायसी की ग्रनमोल भेंट है। मिलनोत्कंठा एवं विरह-वर्णन में जायसी ने जो प्रतिभा दर्शाई है वह बड़े बड़े कवियों में मिलनी कठिन है। प्रिय के लिए इस तड़पन ने जायसी को ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा के ग्रद्वैत की ग्रोर प्रेरित्त किया है, यहीं उनके रहस्यवाद का जन्म होता है। यह रहस्यवाद उनकी एक विशेषता है, ग्रौर उनकी ग्राध्यात्मिकता का सुन्दर प्रतीक है। जीव ग्रौर ईश्वर, सृष्टि ग्रौर जगत् के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत गहरी डुबकियाँ लगाई हैं। यद्यपि जीवन के व्यापक क्षेत्र को उन्होंने ग्रपने काव्य का विषय नहीं बनाया है पर जो क्षेत्र उनके सामने ग्रागया है उसकी व्याख्या में सदा बड़ी सचाई से काम लिया है। ग्रलंकारों की योजना में भी वे जीवन की व्याख्या को भूले नहीं हैं। जिसके फलस्वरूप वे शब्दालंकारों के शब्दाडम्बर में पड़ने से बच गये हैं।

पद्मावत के कवि जायसी ग्रखरावट में दार्शनिक विचारक बन गये हैं। यद्यपि उनकी दार्शिनिकता के बीज पद्मावत में ही परिपक्व हो चुके हैं। प्रेम-कथा के लौकिक पत्त का सरसता से निर्वाह करते हुए भी वे

बिरह न आपु सँभारै, मैल चीर, सिर रूख।
पिउ पिउ करत राति दिन जस पपिहा मुख सूख ॥५॥

ततखन गा हीरामन आई।
मरत पियास छाँह जनु पाई॥
भल तुम्ह, सुआ! कीन्ह है फेरा।
कहहु कुसल अब पीतम केरा॥
बाट न जानौं, अगम पहारा।
हिरदय मिला न होइ निनारा॥
मरम पानि कर जान पियासा।
जो जल महँ ता कहँ का आसा?॥
का रानी यह पूछहु बाता।
जिनि कोइ होइ पेम कर राता॥
तुम्हरे दरसन लागि बियोगी।
अहा सो महादेव मठ जोगी॥
तुम्ह बसंत लेइ तहाँ सिधाई।
देव पूजि पुनि ओहि पहँ आई॥

दिस्टि बान तस मारेहु घायल भा तेहि ठाँव।
दूसरि बात न बोलै लेइ पदमावति नाँव ॥६॥

तुम्ह तौ खेलि मँदिर महँ आईं।
ओहिक मरम पै जान गोसाईं॥
कहेसि जरै को बारहि बारा।
एकहि बार होहुँ जरि छारा॥
उलटा पंथ पेम के बारा।
चढ़ै सरग, जौ परै पतारा॥
अब धँसि लीन्ह चहै तेहि आसा।
पावै साँस, कि मरै निरासा॥

उसके आध्यात्मिक पक्ष का संकेत देते रहे हैं। काव्य-साहित्य की दृष्टि से यह आवश्यक भी था कि वे लौकिक पक्ष की मधुरिमा कायम रखते, पर लौकिक प्रेम ही चरम लक्ष्य न होने से उन्हें अपने सिद्धान्तों की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए भी प्रयत्न करना पड़ा है, और काव्य का उपसंहार करते समय उन्हें उस ऐतिहासिक प्रेम-कथा को भी एक रूपक बताकर अपने कवि और अपने ऐतिहासिक का सामञ्जस्य स्थापित कर देना पड़ा है। कलाकार और विचारक दोनों को एक मूर्ति में गढ़ देना पड़ा है। अखरावट उनके इस काव्य की उत्तरवर्ती रचना है। प्रेम-कथा उसका आधार नहीं है। इसलिए उसमें लौकिक की असारता मुख्य नहीं आध्यात्मिक उपलब्धि का सार मुख्य है। उसमें जायसी विचारक के रूप में हैं, कलाकार के रूप में नहीं।

पुनि धनि कनक-पानि मसि माँगी।
उतर लिखत भीजी तन आँगी॥
तस कंचन कहँ चहिय सोहागा।
जौं निरमल नग होइ तौ लागा॥
हौं जो गई सिव-मंडप भोरी।
तहँवाँ कस न गांठि तैं जोरी?॥
भा विसँभार देखि कै नैना।
सखिन्ह लाज का बोलौं बैना?॥
खेलहि मिस मैं चंदन घाला।
मकु जागसि तौ देउँ जयमाला॥
तबहुँ न जागा, गा तू सोई।
जागे भेंट, न सोए होई॥
अब जौं सूर होइ चढ़ै अकासा।
जौं जिउ देइ त आवै पासा॥
तौ लगि भुगुति न लेइ सका रावन सिय जब साथ।
कौन भरोसे अब कहौं जीउ पराए हाथ॥६॥
हौं पुनि इहाँ ऐस तोहि राती।
आधी भेंट पिरीतम—पाती॥
तहुँ जौ प्रीत निवाहै आँटा।
भौंर न देख केत कर काँटा॥
होइ पतंग अधरन्ह गहु दीया।
लेसि समुद धँसि होइ मरजीया॥
रातु रंग जिमि दीपक बाती।
नैन लाउ होइ सीप सेवाती॥
चातक होइ पुकारु पियासा।
पीउ न पानि सेवाति कै आसा॥

संक्षिप्त जायसी

राता बदन गएउ होइ सेता ।
भँवत भँवर रहि गए अचेता ॥
जानहिं मरम कँवल कर कोई ।
देखि बिथा बिरहिन कै रोई ॥
बिरहा कठिन काल कै कला ।
बिरह न सहै, काल बरु भला ॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा ।
बिरह–काल मारे पर मारा ॥

तन रावन होइ सर चढ़ा बिरह भएउ हनुवंत ।
जारे ऊपर जारै चित मन करि भसमंत ॥१५॥

घरी चारि इमि गहन गरासी ।
पुनि विधि हिये जोति परगासी ॥
निसँस ऊभि भरि लीन्हेसि साँसा ।
भा अधार, जीवन कै आसा ॥
सरद-चंद मुख जबहिं उघेली ।
खंजन-नैन उठे करि केली ॥
विरह न बोल आव मुख ताईं ।
मरि मरि बोल जीउ बरियाईं ॥
उदधि-समुद जस तरँग देखावा ।
चख घूमहिं; मुख बात न आवा ॥
सखी आनि विष देहु तौ मरऊँ ।
जिउ न पियार, मरै का डरऊँ ? ॥

खिनहि उठै, खिन बूड़ै अस हिय कँवल सँकेत ।
होरामनहि बुलावहि, सखी ! गहन जिउ लेत ॥१६॥

तुम्ह सो मोर खेवक गुरु देवा ।
उतरौं पार तेही बिधि खेवा ॥
दमनहिं नलहि जो हंस मेरावा ।
तुम्ह हीरामन नावँ कहावा ॥

मूरि सजीवन दूरि है सालै सकती-बानु ।
प्रान मुकुत अब होत है बेगि देखावहु भानु ॥१८॥

हीरामन भुइँ धरा लिलाटू ।
तुम्ह रानी जुग जुग सुख-पाटू ॥
जेहि के हाथ सजीवन मूरी ।
सो जानिय अब नाहीं दूरी ॥
पिता तुम्हार राज कर भोगी ।
पूजै विप्र, मरावै जोगी ॥
पौरि पौरि कोतवार जो बैठा ।
पेम क लुबुध सुरँग होइ पैठा ॥
चढ़त रैनि गड़ होइगा भोरू ।
आवत बार धरा कै चोरू ॥
अब लेइ गए देइ ओहि सूरी ।
तेहि सौं अगाह विथा तुम्ह पूरी ॥
अब तुम्ह जिउ, काया वह जोगी ।
कया क रोग जानु पै जोगी ॥

रूप तुम्हार जोउ कै (आपन) पिंड कमावा फेरि ।
आपु हेराइ रहा, तेहि काल न पावै हेरि ॥१९॥

हीरामन जो बात यह कही ।
सूर के गहन चाँद तब गही ॥

संक्षिप्त जायसी

[१]

स्तुति-खण्ड

(१) ईश्वर-स्तुति

मरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥

न्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेइ परवत कैलासू ॥

कीन्हेसि अगिनि, पवन जल, खेहा। कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा।

कीन्हेसि धरती, सरग पतारू। कीन्हेसि बरन बरन औतारू

कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि,राती। कीन्हेसि नखत, तराइन-पाँती

कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाँहा। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहिं माँह

पहिले गुरुहि देइ कहँ आना ।
देखि रूप सब कोइ पछिताना ॥
लोग कहहिं यह होइ न जोगी ।
राजकुँवर कोइ अहै बियोगी ॥
काहुहि लागि भएउ है तपा ।
हिये सो माल, करहु मुख जपा ॥
जस मारै कहँ बाजा तूरू ।
सूरी देखि हँसा मंसूरू ॥
चमके दसन भएउ उजियारा ।
जो जहँ तहाँ बीजु अस मारा ॥
जोगी केर करहु पै खोजू ।
मकु यह होइ न राजा भोजू ॥
सब पूछहिं कहु जोगी जाति जनम औ नाँव ।
जहाँ ठाँव रोवै कर हँसा सो कहु केहि भाव ॥२१॥

का पूछहु अब जाति हमारी ।
हम जोगी औ तपा भिखारी ॥
जोगिहि कौन जाति, हो राजा ।
गारि न कोह, मारि नहि लाजा ॥
निलज भिखारि लाज जेइ खोई ।
तेहि के खोज परै जिनि कोई ॥
जाकर जीउ मरै पर बसा ।
सूरी देखि सो कस नहिं हँसा ? ॥
जोगिहि जबहिं गाढ़ अस परा ।
महादेव कर आसन टरा ॥
वै हँसि पारबती सौं कहा ।
जानहुँ सूर गहन अस गहा ॥

कीन्हेसि सप्त मही बरम्हंडा।
कीन्हेसि भुवन चौदहो खंडा ॥
कीन्ह सबै अस जाकर दूसर छाज़ न काहि।
पहिलै ताकर नाँव लै कथा करौं औगाहि ॥१॥
कीन्हेसि सात समुंद अपारा।
कीन्हेसि मेरु, खिखिंद पहारा ॥
कीन्हेसि सीप, मोति जेहि भरे।
कीन्हेसि बहुतै नग निरमरे ॥
कीन्हेसि साउज आरन रहई।
कीन्हेसि पङ्खि उड़हिं जहँ चहई ॥
कीन्हेसि मानुष, दिहेसि बड़ाई।
कीन्हेसि अन्न, भुगुति तेहिं पाई ॥
कीन्हेसि दरब गरब जेहि होई।
कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई ॥
कीन्हेसि जियन, सदा सब चहा।
कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा ॥
कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोइ धनी।
कीन्हेसि सँपति विपति पुनि घनी ॥
कीन्हेसि कोइ निभरोसी, कीन्हेसि कोइ बरियार।
छारहिं तें सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार ॥२॥
जावत जगत हस्ति औ चाँटा।
सब कहँ भुगुति राति दिन बाँटा ॥
पङ्खि पतङ्ग न बिसरै कोई।
परगट गुपुत जहाँ लगि होई ॥
छत्रहिं अछत, निछत्रहि छावा।
दूसर नाहिं जो सरवरि पावा ॥

राजा रहा दिस्टि कै औंधी ।
रहि न सका तव भाँट दसौंधी ॥
कहेसि मेलि कै हाथ कटारी ।
पुरुष न आछे वैठ पेटारी ॥
कान्ह कोपि कै मारा कंसू ।
गोकुल माँझ बजावा बंसू ॥
गंधूबसेन जहाँ रिस-वाढ़ा ।
जाइ भाँट आगे भा ठाढ़ा ॥
ठाढ़ देख सब राजा राऊ ।
बाएँ हाथ दीन्ह बरम्हाऊ ॥
बोला गंधूबसेन रिसाई ।
कस जोगी, कस भाँट असाई ॥
जोगी पानि, आगि तू राजा ।
आगिहि पानि जूझ नहिं छाजा ॥
आगि वुझाइ पानि सौं, जूझु न, राजा ! वूझु ।
लीन्हे खप्पर बार तोहिं भिच्छा देहि, न जूझु ॥२४॥
बोला भाँट, नरेस सुनु ! गरब न छाजा जीउ ।
कुंभकरन कै खोपरी बूड़त बाचा भीउँ ॥२५॥
ओहट होहु रे भाँट भिखारी ।
का तू मोहिं देहि असि गारी ॥
को मोहिं जोग जगत होइ पारा ।
जा सहुं हेरौं जाइ पतारा ॥
जोगी जती आव जो कोई ।
सुनतहि त्रासमान भा सोई ॥
भीखि लेहिं फिरि माँगहिं आगे ।
ए सब रैनि रहे गढ़ लागे ॥

परवत ढाह देख सब लोगू।
चाँटहिं करै हस्ति सरि जोगू॥
बज्रहिं तिनकहिं मारि उड़ाई।
तिनहि बज्र करि देइ बड़ाई॥
ताकर कीन्ह न जानै कोई।
करै सोइ जो चित्त न होई॥
काहू भोग भुगुति सुख सारा।
काहू भूख बहुत दुख मारा॥
सबै नास्ति वह अहथिर ऐस साज जेहि केर।
एक साजै औ भाँजै चहै सँवारै फेर॥३॥

परगट गुपुत सो सरबबिआपी।
धरमी चीन्ह, न चीन्हे पापी॥
ना ओहि पूत न पिता न माता।
ना ओहि कुटुँब न कोइ सँग नाता॥
जना न काहु, न कोइ ओहि जना।
जहँ लगि सब ताकर सिरजना॥
वै सब कीन्ह जहाँ लगि कोई।
वह नहिं कीन्ह काहु कर होई॥
हुत पहिले अरु अब है सोई।
पुनि सो रहै रहै नहिं कोई॥
और जो होइ सो बाउर अंधा।
दिन दुइ चारि मरै करि धंधा॥
ना ओहि ठाउँ, न ओहि बिन ठाऊँ।
रूप रेख बिन निरमल नाऊँ॥
ना वह मिला न बेहरा ऐस रहा भरिपूरि।
दीठिवंत कहँ नीयरे अंध मूरुखहिं दूरि॥४॥

पुनि आगे का देखै राजा ।
ईसर केर घंट रन बाजा ।
जावत दानव राच्छस पुरे ।
आठौ वज्र आइ रन जुरे ॥
जेहि कर गरव करत हुत राजा ।
सो सब फिरि बैरी होइ साजा ॥
जहवाँ महादेव रन खड़ा ।
सीस नाइ नृप पायँन्ह परा ॥
केहि कारन रिस कीजिए हौं सेवक औ चेर ।
जेहि चाहिय तेहि दीजिय बारि गोसाईं केर ॥२८॥
गए जो बाजन बाजत जिउ मारन रन माहँ ।
फिरि बाजन तेइ बाजे मंगलचार ओनाहँ ॥२६॥

---

(४) रत्नसेन-पद्मावती-विवाह

लगन धरा औ रचा वियाहू ।
सिंघल नेवत फिरा सब काहू ॥
बाजन बाजे कोटि पचासा ।
भा आनंद सगरौं कैलासा ॥
रतनसेन कहँ कापड़ आए ।
हीरा मोति पदारथ लाए ॥
बाजत गाजत भा असवारा ।
सब सिंघल नइ कीन्ह जोहारा ॥
चहुँ दिसि मसियर नखत तराईं ।
सूरुज चढ़ा चाँद के ताईं ॥

अति अपार करता कर करना।
बरनि न कोई पावै बरना ॥
सात सरग जो कागद करई।
धरती समुद दुहुँ मसि भरई ॥
जावत जग साखा बनढाखा।
जावत केस रोंव पँखि पाखा ॥
जाँवत खेह रेह दुनयाई।
मेघबूँद औ गगन तराई ॥
सब लिखनी कै लिखु संसारा।
लिखि न जाइ गति-समुद अपारा ॥
ऐस कीन्ह सब गुन परगटा।
अबहुँ समुद महँ बूँद न घटा ॥
ऐस जानि मन गरब न होई।
गरब करै मन बाउर सोई ॥
बड़ गुनवंत गुसाईं चहै सँवारै बेग।
औ अस गुनी सँवारै जो गुन करै अनेग ॥१॥

(२) पैगम्बर-स्तुति

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा।
नाम मुहम्मद पूनो-करा ॥
प्रथम जोति विधि ताकर साजी।
औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी ॥
दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा।
भा निरमल जग, मारग चीन्हा ॥
जौं न होत अस पुरुप उजारा।
सूझि न परत पंथ अँधियारा ॥

भइ भाँवरि, नेवछावरि, राज चार सब कीन्ह ।
दायज कहौं कहाँ लगि? लिखि न जाइ जत दीन्ह ॥२३॥

रतनसेन जब दायज पावा ।
गंध्रबसेन आइ सिर नावा ॥
मानुस चित्त आन किछु कोई ।
करै गोसाइँ सोइ पै होई ॥
अब तुम्ह सिंघलदीप-गोसाईं ।
हम सेवक अहहीं सेवकाई ॥
जस तुम्हार चितउरगढ़ देसू ।
तस तुम्ह इहाँ हमार नरेसू ॥
जंबूदीप दूरि का काजू ? ।
सिंघलदीप करहु अब राजू ॥
रतनसेन बिनवा कर जोरी ।
अस्तुति-जोग जीभ कहँ मोरी ॥
तुम्ह गोसाइँ जेइ छार छुड़ाई ।
कै मानुस अब दीन्हि बड़ाई ॥

जौ तुम्ह दीन्ह तौ पावा जिवन जनम सुखभोग ।
नातरु खेह पायँ कै, हौं जोगी केहि जोग ? ॥२४॥

———

दुसरे ठांवँ दैव वै लिखे।
भए धरमी जे पाढ़त सिखे॥
जेहि नहिं लीन्ह जनम भरि नाऊँ।
ता कहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ॥
जगत वसीठ दई ओहि कीन्हा।
दुइ जग तरा नावँ जेहि लीन्हा॥
गुन अवगुन विधि पूछब होइहि लेख औ जोख।
वह विनउब आगे होइ करब जगत कर मोख॥६॥

(३) राज-स्तुति

सेरसाहि देहली सुलतानू।
चारिउ खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटा।
सब राजै भुइँ धरा लिलाटा॥
जाति सूर औ खाँड़े सूरा।
औ बुधिवंत सबै गुन पूरा॥
हय गय सेन चलै जग पूरी।
परवत टूटि उड़हिं होइ धूरि॥
रेनु रैनि होइ रविहिं गरासा।
मानुख पंखि लेहिं फिरि बासा॥
डोलै गगन, इन्द्र डरि काँपा।
बासुकि जाइ पतारहिं चाँपा॥
मेरु धसमसै, समुद सुखाई।
बनखँड टूटि खेह मिलि जाई॥
जो गढ़ नएउ न काहुहि चलत होइ सो चूर।
जब वह चढ़ै भूमिपति सेरसाहि जग सूर॥७॥

विरह बान तस लाग न डोली।
रकत पसीज, भीजि गइ चोली॥
सूखा हिया, हार भा भारी।
हरि हरि प्रान तजहि सब नारी॥
खन एक आव पेट महँ! साँसा।
खनहि जाइ जिउ, होइ निरासा॥
पवन डोलावहि, सींचहि चोला।
पहर एक समुझहिं मुख-बोला॥
प्रान पयान होत को राखा?।
को-सुनाव पीतम कै भाखा?॥

आहि जो मारै विरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा सरीर महँ, पाँख जरा, गा भागि॥२॥

पाट-महादेइ! हिये न हारू।
समुझि जीउ चित चेतु सँभारू॥
भौंर कँवल सँग होइ मेरावा।
सँवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पपिहै स्वाती सौं जस प्रीती।
टेकु पियास, बाँधु मन थीती॥
धरतिहि जैस गगन सौं नेहा।
पलटि आव बरषा ऋतु मेहा॥
पुनि बसंत ऋतु आव नवेली।
सो रस, सो मधुकर, सो बेली॥
जिनि अस जीव करसि, तू बारी।
यह तरिवर पुनि उठिहि सँवारी॥
दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा।
पुनि सोइ सरवर, सोई हंसा॥

अदल कहौं पुहुमी जस होई।
चाँटा चलत न दुखवै कोई ॥
नौसेरवाँ जो आदिल कहा।
साहि अदल सरि सोउ न अहा ॥
परी नाथ कोइ छुवै न पारा।
मारग मानुष सोन उछारा ॥
गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा।
दूनौ पानि पियहिं एक घाटा ॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा।
विधि स्वरूप जग ऊपर गढ़ा ॥
दान डाँक बाजै दरबारा।
कीरति गई समुन्दर पारा ॥
जो कोइ जाइ एक बेर माँगा।
जनम न भा पुनि भूखा नाँगा ॥
ऐस दानि जग उपजा सेरसाहि सुलतान।
ना अस भयउ न होइहि ना कोइ देइ अस दान ॥८॥

(४) पीर-स्तुति

सैयद असरफ़ पीर पियारा।
जेहि मोंहि पंथ दीन्ह उँजियारा ॥
लेसा हियें प्रेम कर दीया।
उठी जोति, भा निरमल हीया ॥
मारग हुत अँधियार जो सूझा।
भा अँजोर, सब जाना बूझा ॥
खार समुद्र पाप मोर मेला।
बोहित-धरम लीन्ह कै चेला ॥

हिय हिंडोल अस डोलै मोरा।
बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥
बाट असूझ अथाह गँभीरी।
जिउ बाउर, भा फिरै भँभीरी ॥
जग जल बूड़ जहाँ लगि ताकी।
मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥

परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बनढाँख।
किमि कै भेंटौं कंत तुम्ह ? ना मोहिं पाँव, न पाँख ॥५॥

भा भादों दूभर अति भारी।
कैसे भरौं रैन अँधियारी ॥
मँदिर सून पिउ अनतै बसा।
सेज नागिनी फिरि फिरि डसा ॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी।
नैन पसारि मरौं हिय फाटी ॥
चमक बीजु, घन गरजि तरासा।
बिरह काल होइ जीउ गरासा ॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी।
मोरि दुइ नैन चुवैं जस ओरी ॥
धनि सूखै भरे भादौं माहाँ।
अबहुं न आएन्हि सींचेन्हि नाहा ॥
पुरबा लाग भूमि जल पूरी।
आक जवास भई तस झूरी ॥

थल जल भरे अपूर सब, धरति गगन मिलि एक।
धनि जोबन अवगाह महँ दे बूड़त पिउ ! टेक ॥६॥

उन्ह मोर कर बूड़त कै गहा।
पायों तीर घाट जो अहा॥
जाकहँ ऐस होइ कंधारा।
तुरत वेगि सो पावै पारा॥
दस्तगीर गाढ़े कै साथी।
वह अवगाह, दीन्ह तेहि हाथी॥
मुहमद तेइ निचित पथ जेहि सँग मुरसिद पीर।
जेहिके नाव औ खेवक वेगि लाग सो तीर॥६॥

(५) कवि-वर्णन

एक नयन कवि मुहमद गुनी।
सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी॥
चाँद जैस जग विधि औतारा।
दीन्ह कलंक, कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकै नयनाहाँ।
उआ सूक जस नखतन्ह माहाँ॥
जायस नगर धरम-अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥
औ विनती पँडितन सन भजा।
टूट सँवारहु, मेरवहु सजा॥
सन नव सै सैंतालिस अहा।
कथा-अरंभ वैन कवि कहा॥
आदि अन्त जस गाथा अहै।
लिखी भाखा चौपाई कहै॥
भँवर आइ वनखँड सन लेइ कँवल कै वास।
दादुर बास न पावई भलहि जो आछै पास॥१०॥

सखि झूमक गावैं अँग मोरी ।
हौं झुरावँ, बिछुरी मोरि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मनारथ पूजा ।
मो कहँ बिरह, सवति-दुख दूजा ॥

सखि मानैं तिउहार सब गाइ, देवारी खेलि ।
हौं का गावौं कंत बिनु रहो छार सिर मेलि ॥८॥

अगहन दिवस घटा, निसि बाढ़ी ।
दूभर रैनि, जाइ किमि गाढ़ी ? ॥
अब धनि बिरह दिवस भा राती ।
जरौं बिरह जस दीपक-बाती ॥
काँपै हिया जनावै सीऊ ।
तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचे सब काहू ।
मोर रूप-रँग लेइगा नाहू ॥
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई ।
अबहूँ फिरै, फिरै रँग सोई ॥
बज्र-अगिनि बिरहिन हिय जारा ।
सुलुगि सुलुगि दगधै होइ छारा ॥
यह दुख दगध न जानै कंतू ।
जोबन जनम करै भसमंतू ॥

पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम लाग ॥६॥

पूस जाड़ थर थर तन काँपा ।
सुरुज जाइ लंका-दिसि चाँपा ॥

सिंहलनगर देखु पुनि बसा।
धनि राजा अस जे कै दसा॥
ऊँची पौरी ऊँच अवासा।
जनु कैलास इन्द्र कर वासा॥
राव रंक सब घर घर सुखी।
जो दीखै सो हँसता-मुखी॥
सबै गुनी औ पंडित ज्ञाता।
संसकिरित सब के मुख बाता॥
पुनि देखी सिंहल कै हाटा।
नवो निद्धि लछिमी सब बाटा॥
रतन पदारथ मानिक मोती।
हीरा लाल सो अनगन जोती॥
जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा।
ता कहँ आन हाट कित लाहा?॥
कोई करै बेसाहनी काहू केर बिकाइ।
कोई चलै लाभ सन, कोई मूर गँवाइ॥४॥

पुनि आए सिंघलगढ़ पासा।
का बरनौं जनु लाग अकासा॥
परा खोह चहुँ दिसि अस बाँका।
काँपै जाँघ, जाइ नहिं झाँका॥
अगम असूझ देखि डर खाई।
परै सो सपत-पतारहिं जाई॥
नव पौरी बाँकी, नवखण्डा।
नवौ जो चढ़ै जाइ बरम्हंडा॥
निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू।
नाहिं त होइ बाजि रथ चूरू॥

केहि क सिंगार, को पहिरु पटोरा ? ।
गीउ न हार, रही होइ डोरा ॥
तुम बिनु काँपै धनि हिया, तन तिनउर भा डोल ।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल ॥११॥

फागुन पवन झकोरा बहा ।
चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा ॥
तन जस पियर पात भा मोरा ।
तेहि पर बिरह देइ झकझोरा ॥
तरिवर झरहि, झरहिं बन ढाखा ।
भई ओनंत फूलि फरि साखा ॥
करहिं बनसपति हिये हुलासू ।
मो कहँ भा जग दून उदासू ॥
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी ।
मोहिं तन लाइ दीन्हि जस होरी ॥
जौ पै पीउ जरत अस पावा ।
जरत मरत मोहिं रोष न आवा ॥
राति दिवस बस यह जिउ मोरे ।
लगौं निहोर कंत अब तोरे ॥
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन ! उड़ाव' ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहँ पाव ॥१२॥

चैत बसंता होइ धमारी ।
मोहिं लेखे संसार उजारी ॥
पंचम बिरह पंच सर मारै ।
रकत रोइ सगरौं बन ढारै ॥
बूड़ि उठे सब तरिवर—पाता ।
भीजि मजीठ, टेसु बन राता ॥

फिरहिं पाँच कोतवार सुभौंरी।
काँपै पाँव चपत वह पौरी ॥
कनक-सिला गढ़ि सीढ़ी लाईं।
जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं ॥
नवौ खंड नव पौरी औ तहँ वज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार ॥४॥

नव पौरी पर दसवँ दुवारा।
तेहि पर बाज राज-घरियारा ॥
घरी सो बैठि गनै घरियारी।
पहर पहर सो आपनि बारी ॥
जबहीं घरी पूजि तेहिं मारा।
घरी घरी घरियार पुकारा ॥
परा जो डाँड़ जगत सब डाँड़ा।
का निचिंत माटी कर भाँड़ा ? ॥
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ काँचे।
आएहु रहै, न थिर होइ बाँचे ॥
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ।
का निचिंत होइ सोउ बटाऊ ? ॥
पहरहिं पहर गजर निति होई।
हिया बजर, मन जाग न सोई ॥
मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी, जनम गा बीति ॥६॥

पुनि चलि देखा राज-दुआरा।
मानुप फिरहिं पाइ नहिं बारा ॥
हस्ति सिंघली बाँधे बारा।
जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा ॥

कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै जौ पिउ सींचै आइ ॥१४॥

जेठ जरै जग, चलै लुवारा ।
उठहिं बवंडर, परहिं अँगारा ॥
बिरह गाजि हनुवँत होउ जागा ।
लंका-दाह करै तनु लागा ॥
चारिहु पवन झकोरै आगी ।
लंका दाहि पलंका लागी ॥
दहि भइ साम नदी कालिंदी ।
बिरहक आगि कठिन अति मंदी ॥
उठै आगि औ आवै आँधी ।
नैन न सूझ मरौं दुख-बाँधी ॥
अधजर भइउँ, माँसु तन सूखा ।
लागेउ बिरह काल होइ भूखा ॥
माँसु खाइ अब हाड़न्ह लागै ।
अबहुँ आउ, आवत सुनि भागै ॥

गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रबि सहि न सकहिं वह आगि ।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिउ लागि ॥१५॥

रोइ गँवाए बारह मासा ।
सहस सहस दुख एक एक साँसा ॥
तिल तिल बरख बरख परि जाई ।
पहर पहर जुग जुग न सेराई ॥
सो नहिं आवै रूप मुरारी ।
जासौं पाव सोहाग सुनारी ॥

कन्यारासि उदय जग कीया।
पदमावती नाम अस दीया॥
कन्हेसि जनमपत्री जो लिखी।
देइ असीस बहुरे जोतिषी॥
पाँच बरस महँ भै सो बारी।
दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी॥
भै पदमावति पंडित गुनी।
चहूँ खंड के राजन्ह सुनी॥
सात दीप के बर जो ओनाहीं।
उत्तर पावहिं फिरि फिरि जाहीं॥
राजा कहै गरब कै अहौं इंद्र सिवलोक।
को सरवरि है मोरे का सौं करौं बरोक॥१०॥

सात खंड धौराहर तासू।
सो पदमिनि कहँ दीन्ह निवासू॥
औ दीन्हीं सँग सखी सहेली।
जो सँग करैं रहसि रस-केली॥
सुआ एक पदमावति ठाऊँ।
महा पँडित हीरामन नाऊँ॥
दई दीन्ह पंखिहि असि जोती।
नैन रतन, मुख मानिक मोती॥
कंचन-बरन सुआ अति लोना।
मानहुँ मिला सोहागहिं सोना॥
रहहिं एक सँग दोऊ पढ़हिं सासतर वेद।
बरम्हा सीस डोलावहीं सुनत लाग तस भेद॥११॥

भै उनंत पदमावति बारी।
रचि रचि बिधि सब कला सँवारी॥

नहिं पावस ओहि देसरा; नहिं हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ॥१८॥

---

(२) नागमती-संदेश-खण्ड

फिरि फिरि रोव, कोइ नहिं डोला।
आधी राति बिहंगम बोला॥
"तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी।
केहि दुख रैनि न लावहि आँखी"?॥
नागमती कारन कै रोई।
का सोवै जो कंत-बिछोई॥
मनचित हुँते न उतरै मोरे।
नैन क जल चुकि रहा न मोरे॥
कोइ न जाइ ओहि सिंघलदीपा।
जेहि सेवाति कहँ नैना सीपा॥
जोगी होइ निसरा सो नाहू।
तब हुँत कहा सँदेस न काहू॥
निति पूछौं सब जोगी जंगम।
कोइ न कहै निज बात, बिहंगम!॥
चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न सँदेसा टेक।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहु दँड एक॥१९॥
तासौं दुख कहिए, हो बीरा।
जेहि सुनि कै लागै पर पीरा॥
को होइ भिउँ अँगवै पर दाहा।
को सिंघल पहुँचावै चाहा?॥

जग बेधा तेहिं अंग-सुबासा।
भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा॥
एक दिवस पदमावति रानी।
हीरामनि तहँ कहा सयानी॥
सुनु हीरामनि कहौं बुझाई।
दिन दिन मदन सतावै आई॥
देस देस के वर मोहि आवहिं।
पिता हमार न आँखि लगावहिं॥
जोबन मोर भएउ जस गंगा।
देह देह हम लाग अनंगा॥
हीरामनि तब कहा बुझाई।
बिधि कर लिखा मेटि नहिं जाई॥
अज्ञा देउ देखौं फिरि देसा।
तोहि जोग वर मिलै नरेसा॥
जौ लगि मैं फिरि आवौं मन चित धरहु निवारि।
सुनत रहा कोइ दुरजन राजहि कहा बिचारि॥१२॥
राजा सुना दीठि भै आना।
बुधि जो देहि सँग सुआ सयाना॥
भएउ रजायसु मारहु सूआ।
सूर सुनाव चाँद जहँ ऊआ॥
सत्रु सुआ के नाऊ बारी।
सुनि धाए जस धाव मँजारी॥
तब लगि रानी सुआ छपावा।
जब लगि ब्याध न आवै पावा॥
पिता क आयसु माथे मोरे।
कहहु जाय बिनवौं कर-जोरे॥

सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ ॥२१॥

लेइ सो सँदेस बिहंगम चला ।
उठी आगि सगरौं सिंघला ॥
बिरह-बजागि बीच को ठेघा ? ।
धूम सो उठा साम भए मेघा ॥
भरि गा गगन लूक अस छूटे ।
होइ सब नखत आइ भुइँ टूटे ॥
जहँ जहँ भूमि जरी भा रेहू ।
बिरह के दाध भई जनु खेहू ॥
राहु केतु, जब लंका जरी ।
चिनगी उड़ी चाँद महँ परी ॥
जाइ बिहंगम समुद डफारा ।
जरे मच्छ, पानी भा खारा ॥
दाधे बन बीहड़, जल सीपा ।
जाइ निअर भा सिंघलदीपा ॥

समुद तीर एक तरिवर जाइ बैठ तेहि रूख ।
जौ लगि कहा सँदेस नहिं, नहिं पियास, नहि भूख ॥२२॥

रतनसेन बन करत अहेरा ।
कीन्ह ओही तरिवर तर फेरा ॥
सीतल बिरिछ समुद के तीरा ।
अति उतंग औ छाहँ गँभीरा ॥
तुरय बाँधि कै बैठ अकेला ।
साथी और करहिं सब खेला ॥
देखत फिरै सो तरिवर-साखा ।
लाग सुनै पंखिन्ह कै भाखा ॥

पंखि न कोई होइ सुजानू ।
जानै भुगुति, कि जान उड़ानू ॥
सुआ जो पढ़ै पढ़ाए बैना ।
तेहि कत बुधि जेहिं हिये न नैना ? ॥
मानिक मोती देखि वह हिये न ज्ञान करेइ ।
दारिउँ दाख जानिकै अबहिं ठोर भरि लेइ ॥१३॥

वै तौ फिरे उतर अस पावा ।
बिनवा सुआ हिये डर खावा ॥
रानी तुम जुग जुग सुख पाऊ ।
होइ अज्ञा बनवास तो जाऊँ ॥
मोतिहिं मलिन जो होइ गइ कला ।
पुनि सो पानि कहाँ निरमला ? ॥
ठाकुर अंत चहै जेहि मारा ।
तेहि सेवक कर कहाँ उबारा ? ॥
रानी उतर दीन्ह कै माया ।
जौ जिउ जाइ रहै किमि काया ? ॥
हीरामन ! तू प्रान परेवा ।
धोख न लाग करत तोहिं सेवा ॥
तोहिं सेवा बिछुरन नाहिं आखौं ।
पींजर हिये घाल कै राखौं ॥
सुअटा रहै खुरुक जिउ अबहिं काल सो आव ।
सत्रु अहै जो करिया कबहुँ सो बोरे नाव ॥१४॥

छाँड़िउँ आपनि सखी सहेली ।
दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली ॥
नैहर आइ काह सुख देखा ? ।
जनु होइगा सपने कर लेखा ॥
मिलहु, सखी ! हम तहँवाँ जाहीं ।
जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं ॥
सात समुद्र पार वह देसा ।
कित रे मिलन, कित आव सँदेसा ॥
हम तुम मिलि एकै सँग खेला ।
अंत बिछोह आनि गिउ मेला ॥

कंत चलाई का करौं आयसु जाइ न मेटि ।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं, लेहु सहेली भेंटि ॥२८॥

'चलहु चलहु' भा पिउ कर चालू ।
घरी न देख लेत जिउ कालू ॥
समदि लोग पुनि चढ़ी बिवाना ।
जेहि दिन डरी सो आइ तुलाना ॥
रोवहिं मातु पिता औ भाई ।
कोउ न टेक जौ कंत चलाई ॥
भरीं सखी सब भेंटत फेरा ।
अंत कंत सौं भएउ गुरेरा ॥
जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ ।
चला साथ गुन अवगुन दोऊ ॥
औ सँग चला गवन सब साजा ।
उहै देइ अस पारै राजा ॥
रतन पदारथ मानिक मोती ।
काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती ॥

(२) मानसरोदक-खण्ड

एक दिवस पून्यो तिथि आई।
मानसरोदक चली नहाई॥
पदमावति सब सखी बुलाई।
जनु फुलवारि सबै चलि आई॥
खेलत मानसरोवर गईं।
जाइ पाल पर ठाढ़ी भईं॥
देखि सरोवर हँसैं कुलेली।
पदमावति सौं कहहिं सहेली॥
ए रानी! मन देखु विचारी।
एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू।
खेलि लेहु जो खेलहु आजू॥
पुनि सासुर हम गवनव काली।
कित हम, कित यह सरवर-पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथा।
कित मिलि कै खेलब एक साथा॥
पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुःख, दहुँ कस जनम निवाह॥१५॥
कित नैहर पुनि आउब कित ससुरे यह खेल।
आपु आपु कहँ होइहि परब पंखि जस डेल॥१६॥
सरवर तीर पदमिनी आई।
खोंपा छोरि केस मुकलाई॥

लछिमी नावँ समुद कै बेटी ।
तेहि कहँ लच्छि होइ जेहि भेंटी ॥
खेलत अही सहेली सेंती ।
पाटा जाइ लाग तेहि रेती ॥
कहेसि सहेली "देखहु पाटा ।
मूरति एक लागि बहि घाटा ॥
लछमी लखन बतीसौं लखी ।
कहेसि "न मरै, सँभारहु, सखी ! ॥
आपु सीस लेइ बैठी कोरै ।
पवन डोलावै सखि चहुं ओरै ॥
बहुरि जो समुझि परा तन जीऊ ।
माँगेसि पानि बोलि कै पीऊ ॥
पानि पियाइ सखी मुख धोई ।
पदमिनि जनहुँ कवँल सँग कोई ॥
तब लछिमी दुख पूछा ओही ।
"तिरिया ! समुझि बात कहु मोहीं ॥
देखि रूप तोर आगर, लागि रहा चित मोर ।
केहि नगरी कै नागरी, काह नावँ, धनि तोर ?"॥३१॥

नैन पसारि देख धन चेती ।
देखै काह, समुद कै रेती ॥
आपन कोइ न देखेसि तहाँ ।
पूछेसि, तुम्ह हौ को ? हौं कहाँ ? ॥
कहाँ सो सखी कँवल सँग कोई ।
सो नाहीं, मोहिं कहाँ बिछोई ? ॥
कहाँ जगत महँ पीउ पियारा ।
जो सुमेरु, विधि गरुअ सँवारा ? ॥

ओनई घटा परी जग छाहाँ।
सति कै सरन लीन्ह जनु राहाँ॥
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा।
लेइ निसि नखत चाँद परगसा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा।
मेघघटा मँह चंद देखावा॥
धरी तीर सब कंचुकि सारी।
सरवर महँ पैठीं सब बारी॥
सरवर नहिं समाइ संसारा।
चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा॥
धनि सो नीर ससि तरई ऊईं।
अब कित दीठ कमल औ कूईं॥
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलौं, हो नाहँ।
एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल माहँ॥१७॥
लागीं केलि करै मझ नीरा।
हंस लजाइ बैठ ओहि तीरा॥
बाद मेलि कै खेल पसारा।
हार देइ जो खेलत हारा॥
सँवरिहिं साँवरि, गोरिहिं गोरी।
आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी॥
बूझि खेल खेलहु एक साथा।
हार न होइ पराए हाथा।
सखी एक तेइ खेल न जाना।
भै अचेत मनि-हार गवाँना॥
कवँल डार गहि भै बेकरारा।
कासों पुकारौं आपन हारा॥

कहि बुझाइ लेइ मँदिर सिधारी।
भइ जेवनार न जेंवै बारी॥
जेहि रे कंत कर होइ बिछोवा।
कहँ तेहि भूख, कहाँ सुख-सोवा॥

लछिमी जाइ समुद पहँ रोइ बात यह चालि।
कहा समुद "वह घट मोरे, आनि मिलावौं कालि"॥३४॥

राजा जाइ तहाँ बहि लागा।
जहाँ न कोइ सँदेसी कागा॥
काहि पुकारौं, का पहँ जाऊँ।
गाढ़े मीत होइ एहि ठाऊँ॥
को यह समुद मथै बल गाढ़ै।
को मथि रतन पदारथ काढ़ै?॥
ए गोसाइँ! तू सिरजनहारा।
तुइँ सिरजा यह समुद अपारा॥
जानसि सबै अवस्था मोरी।
जस बिछुरी सारस कै जोरी॥
एक मुए ररि मुवै जो दूजी।
राह न जाइ, आउ अब पूजी॥
मरौं सो लेइ पदमावति नाऊँ।
तुइँ करतार करेसि एक ठाऊँ॥

दुख सौं पीतम भेंटि कै सुख सौं सोव न कोइ।
एही ठावँ मन डरपै, मिलि न बिछोहा होइ॥३५॥

कहि कै उठा समुद महँ आवा।
काढ़ि कटार गीउ महँ लावा॥

कित खेलै आइउँ एहि साथा।
हार गँवाइ चलिउँ लेइ हाथा॥
लागीं सब मिलि हेरै बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोई उठी मोती लेइ काहू घोंघा हाथ॥१८॥
कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस-रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पायँन्ह परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय-समीर बास तन आई।
भा सीतल, गै तपनि बुझाई॥
न जनौं कौन पौन लेइ आवा।
पुन्य-दसा भै, पाप गँवावा॥
ततखन हार बेगि उतिराना।
पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना॥
बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा।
भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चहा।
ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥१६॥

---

(४) सुआ-खण्ड

पदमावति तहँ खेल दुलारी।
सुआ मँदिर महँ देखि मजारी॥
कहेसि चलौं जौ लहि तन पाँखा।
जिउ लै उड़ा ताकि बन-ढाँखा॥

लछिमी चंचल नारि परेवा ।
जेहि सत होइ छरै कै सेवा ॥
रतनसेन आवै जेहि घाटा ।
अगमन होइ बैठि तेहि बाटा ॥
ओ भइ पदमावति कै रूपा ।
कीन्हेसि छाहँ जरै जहँ धूपा ॥
देखि सो कँवल भँवर होइ धावा ।
साँस लीन्ह, वह बास न पावा ॥
का तुइँ नारि बैठि अस रोई ।
फूल सोइ पै बास न सोई ॥
हौं ओहि बास जीउ बलि देऊँ ।
और फूल कै बास न लेऊँ ॥
लेइ सो आइ पदमावति पासा ।
पानि पियावा मरत पियासा ॥

पायँ परी धनि पीउ के, नैनन्ह सौं रज मेट ।
अचरज भएउ सबन्ह कहँ, भइ ससि कँवलहिं भेट ॥३५

आइ मिले सब साथी, हिलि मिलि करहिं अनंद ।
भई प्राप्त सुख संपति, गएव छूटि दुख-द्वंद ॥३६॥

दिन दस रहे तहाँ पहुनाई ।
पुनि भए विदा समुद सौं जाई ॥
लछिमी पदमावति सौं भेंटी ।
औ तेहि कहा "मोरि तू बेटी" ॥
दीन्ह समुद्र पान कर बीरा ।
भरि कै रतन पदारथ हीरा ॥
और पाँच नग दीन्ह बिसेखे ।
सरवन सुना, नैन नहिं देखे ॥

जाइ परा बनखँड जिउ लीन्हें ।
मिले पंखि, वहु आदर कीन्हें ॥
आनि धरेन्हि आगे फरि साखा ।
भुगुति भेंट जौ लहि बिधि राखा ॥
पाइ भुगुति सुख तेहि मन भएऊ ।
दुख जो अहा बिसरि सब गएऊ ॥
ए गुसाइँ तूँ ऐस विधाता ।
जावत जीव सबन्ह भुकदाता ॥
पाहन महँ नहिं पतँग बिसारा ।
जहँ तोहि सुमिर दीन्ह तुइँ चारा ॥
तौ लहि सोग बिछोह कर भोजन परा न पेट ।
पुनि बिसरन भा सुमिरना जब संपति भै भेंट ॥२०॥

पदमावति पहँ आइ भँडारी ।
कहेसि मँदिर महँ परी मजारी ॥
सुआ जो उतर देत रह पूँछा ।
उड़िगा, पिंजर न बोलै छूँछा ॥
रानी सुना सबहिं सुख गएऊ ।
जनु निसि परी, अस्त दिन भएऊ ॥
गहने गही चाँद कै करा ।
आँसु गगन जस नखतन्ह भरा ॥
टूट पाल सरवर वहि लागे ।
कवँल बूड़, मधुकर उड़ि भागे ॥
एहि विधि आँसु नखत होइ चूए ।
गगन छाँड़ि सरवर महँ ऊए ॥
चिहुर चुईं मोतिन कै माला ।
अब सँकेत बाँधा चहुँ पाला ॥

पूछहि सखी सहेलरी, हिरदय देखि अनंद।
आजु वदन तोर निरमल, अहै उवा जस चंद ॥४१॥

वाजत गाजत राजा आवा।
नगर चहूँ दिसि बाज वधावा॥
विहँसि आइ माता सौं मिला।
राम जाइ भेंटी कौसिला॥
भई उहाँ चहुँ खंड वखानी।
रतनसेन पदमावति आनी॥
वैठ सिंवासन, लोग जोहारा।
निधनी निरगुन दरव वोहारा॥
अगनित दान निछावरि कीन्हा।
मँगतन्ह दान वहुत कै दीन्हा॥
सव दिन राजा दान दिआवा।
भइ निसि, नागमती पहँ आवा॥
नागमती मुख फेर वईठी।
सौंह न करै पुरुष सौं दीठी॥
ग्रीषम जरत छाँड़ि जो जाई।
सो मुख कौन देखावै आई?॥
तू जोगी होइगा वैरागी।
हौं जरि छार भइउँ तोहि लागी?॥

काह हँसौ तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम्ह मुख चमकै वीजुरी, मोहिं मुख वरसै मेह ॥४२॥

कंठ लाइ कै नारि मनाई।
जरी जो वेलि सींचि पलुहाई॥
जौं भा मेर भएउ रँग राता।
नागमती हँसि पूछी वाता॥

उड़ि यह सुअटा कहँ बसा खोजु सखी सो बासु ।
दहुँ है धरती की सरग, पौन न पावै तासु ॥२१॥

चहूँ पास समुझावहिं सखी ।
कहाँ सो अब पाउब, गा पँखी ॥
जौ लहि पींजर अहा परेवा ।
रहा बंदि महँ कीन्हेसि सेवा ॥
तेहि बंदि हुति छुटै जो पावा ।
पुनि फिरि बंदि होइ कित आवा ? ॥
वै उड़ान-फर तहियै खाए ।
जब भा पँखि, पाँख तन आए ॥
पींजर जेहिक सौंपि तेहि गएऊ ।
जो जाकर सो ताकर भएऊ ॥
दस दुवार जेहि पींजर माहाँ ।
कैसे बाँच मँजारी पाहाँ ? ॥
यह धरती अस केतन लीला ।
पेट गाढ़ अस, बहुरि न ढीला ॥
जहाँ न राति न दिवस है जहाँ न पौन न पानि ।
तेहिं बन सुअटा चलि बसा कौन मिलावै आनि ?॥२२॥

सुऐ तहाँ दिन दस कल काटी ।
आय बियाध ढुका लेइ टाटी ॥
पैग पैग भुइँ चापत आवा ।
पंखिन्ह देखि हिये डर खावा ॥
देखिय किछु अचरज अनभला ।
तरिवर एक आवत है चला ॥
एहि बन रहत गई हम आऊ ।
तरिवर चलत न देखा काऊ ॥

(१) राघव-चेतन देस-निकाला-खण्ड

राघव चेतन चेतन महा।
आऊ सरि राजा पहँ रहा॥
होइ अचेत घरी जौ आई।
चेतन कै सब चेत भुलाई॥
भा दिन एक अमावस सोई।
राजै कहा 'दुइज कब होई?'॥
राघव के मुख निकसा 'आजू'।
पँडितन्ह कहा 'काल्हि, महराजू'॥
राजै दुवौ दिसा फिरि देखा।
इन महँ को बाउर, को सरेखा॥
भुजा टेकि पंडित तब बोला।
'छाँड़हिं देस बचन जौ डोला'॥
तेहि ऊपर राघव बर खाँचा।
'दुइज आजु तौ पंडित साँचा'॥

राघव पूजि जाखिनी, दुइज देखाएसि साँझ।
वेद-पंथ जे नहिं चलहिं ते भूलहिं बन-माँझ॥१॥

पँडितन्ह कहा, परा नहिं धोखा।
कौन अगस्त, समुद जेइ सोखा?॥
सो दिन गएउ साँझ भइ दूजी।
देखी दुइज घरी वह पूजी॥

आज जो तरिवर चल, भल नाहीं।
आवहु यह बन छाँड़ि पराहीं॥
वै तौ उड़े और बन ताका।
पण्डित सुआ भूलि मन थाका॥
साखा देखि राज जनु पावा।
बैठ निचिंत, चला वह आवा॥

पाँच वान कर खोंचा लासा भरे सो पाँच।
पाँख भरे तन अरुझा, कित मारे बिनु बाँच॥२३॥

बँधिगा सुआ करत सुख केली।
चूरि पाँख मेलेसि धरि डेली॥
तहवाँ बहुत पंखि खरभरहीं।
आपु आपु महँ रोदन करहीं॥
बिखदाना कित होत अँगूरा।
जेहि भा मरन डहन धरि चूरा॥
जौं न होत चारा कै आसा।
कित चिरिहार ढुकत लेइ लासा?॥
यह विष चारै सब बुधि ठगी।
औ भा काल हाथ लेइ लगी॥
एहि झूठी माया मन भूला।
ज्यों पंखी तैसै तन फूला॥
यह मन कठिन मरै नहिं मारा।
काल न देख, देख पै चारा॥

हम तौ बुद्धि गँवावा बिख-चारा अस खाइ।
तैं सुअटा पण्डित होइ कैसे बाँधा आइ?॥२४॥

सुऐ कहा हमहूँ अस भूले।
टूट हिंडोल-गरब जेहि भूले॥

जानहु टूटि बीजु भुइँ परी।
उठा चौंधि राघव चित हरी ॥

परा आइ भुइँ कंकन, जगत भएउ उजियार।
राघव बिजुरी मारा, बिसँभर किछु न सँभार ॥३॥

सबै सहेली देखै धाईं।
'चेतन चेतु' जगावहि आई ॥
चेतन परा, न आवै चेतू।
सबै कहा 'एहि लाग परेतू' ॥
कोई कहै आहि सनिपातू।
कोई कहै कि मिरगी बातू ॥
कोइ कह लाग पवन कर झोला।
कैसेहु समुझि न चेतन बोला ॥
पुनि उठाइ बैठाएन्हि छाहाँ।
पूछहि, कौन पीर हिय माहाँ ? ॥
दहुँ काहू के दरसन हरा।
की ठग धूत भूत तोहि छरा ॥

की तोहि दीन्ह काहु किछु, की रे डसा तोहि साँप ?।
कहु सचेत होइ चेतन, देह तोरि कस काँप ॥४॥

[illegible] बा[illegible] [illegible] पै धुना।
क[illegible] न सुना ॥
[illegible]

केरा के बन लीन्ह बसेरा।
परा साथ तहँ बेरी केरा॥
सुख कुरवारि फरहरी खाना।
ओहु विख भा जब व्याध तुलाना॥
सुखी निचिंत जोरि धन करना।
यह न चिंत आगे है मरना॥
भूले हमहुँ गरब तेहि माहाँ।
सो बिसरा पावा जेहि पाहाँ॥
होइ निचिंत बैठे तेहि आड़ा।
तब जाना खोचा हिये गाड़ा॥
चरत न खुरुक कीन्ह जिउ तब रे चरा सुख सोइ।
अब जो फाँद परा गिउ तब रोए का होइ॥२५॥

सुनि कै उतर आँसु पुनि पोंछे।
कौन पंखि बाँधा बुधि-ओछे॥
पंखिन्ह जौं बुधि होइ उजारी।
पढ़ा सुआ कित धरै मजारी?॥
तादिन व्याध भए जिउलेवा।
उठे पाँख, भा नाँव परेवा॥
भै बियाधि तिसना सँग खाधू।
सूझै भुगुति, न सूझ बियाधू॥
हम निचित वह आव छिपाना।
कौन बियाधहि दोष अपाना॥
सो औगुन कित कीजिए जिउ दीजै जेहि काज।
अब कहना है किछु नहीं मस्ट भली पँखिराज॥२६॥

मया साह मन सुनत भिखारी ।
परदेसी को ? पूछु हँकारी ॥
राघव चेतन हुत जो निरासा ।
ततखन वेगि बुलावा पासा ॥
सीस नाइ कै दीन्ह असीसा ।
चमकत नग कंकन कर दीसा ॥
अज्ञा भइ पुनि राघव पाहाँ ।
तू मंगन, कंकन का बाहाँ ?
राघव फेरि सीस भुइँ धरा ।
जुग जुग राज भानु कै करा ॥
पद्मिनि सिहलदीप के रानी ।
रतनसेन चितउरगढ़ आनी ॥
कवँल न सरि पूजै तेहि बासा ।
रूप न पूजै चंद अकासा ॥

सोइ रानी संसार-मनि दछिना कंकन दीन्ह ।
अछरी-रूप देखाइ कै जीउ झरोखे लीन्ह ॥७॥

सुनि कै उतर साहि मन हँसा ।
जानहु बीजु चमकि परगसा ॥
काँच जोग जेहि कंचन पावा ।
मंगन ताहि सुमेरु चढ़ावा ॥
नावँ भिखारि जीभ मुख बाँची ।
अबहुँ सँभारि बात कहुँ साँची ॥
कहँ अस नारि जगत उपराहीं ।
जेहि के सूरुज ससि नाहीं ॥
जो पद्मिनि सो मंदिर मोरे ।
सातो दीप जहाँ कर जोरे ॥

(१) बनिजारा-खण्ड

चितउरगढ़ कर एक बनिजारा।
सिंघलदीप चला बैपारा॥
बाम्हन हुत एक निपट भिखारी।
सो पुनि चला चलत बैपारी॥
रिन काहू कर लीन्हेसि काढ़ी।
मकु तहँ गए होइ किछु बाढ़ी॥
मारग कठिन बहुत दुख भएऊ।
नाँघि समुद्र दीप ओहि गएऊ॥
देखि हाट किछु सूझ न ओरा।
सबै बहुत, किछु देख न थोरा॥
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा।
धनी पाव, निधनी मुख हेरा॥
लाख करोरिन्ह वस्तु बिकाई।
सहसन केरि न कोउ ओनाई॥
सबहीं लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोर।
बाम्हन तहवाँ लेइ का ? गाँठि साँठि सुठि थोर॥१॥

झूरै ठाढ़ हौं, काहे क आवा ?
बनिज न मिला रहा पछितावा॥
लाभ जानि आएउँ एहि हाटा।
मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटा॥
जेहि ब्योहरिया कर ब्योहारू।
का लेइ देब जौ छेंकिहिं बारू॥

जौं राघव धनि बरनि सुनाई।
सुना साह, गइ मुरछा आई॥
जनु मूरत वह परगट भई।
दरस दिखाइ माहिं छपि गई॥
मन होइ भँवर, भएउ वैरागा।
कँवल छाँड़ि चित्त और न लागा॥
तब कह अलाउदीं जग-सूरू।
लेउँ नारि चितउर कै चूरू॥
पान दीन्ह राघव पहिरावा।
दस गज हस्ति घोड़ सो पावा॥
सरजा वीर पुरुष वरियारू।
ताजन नाग, सिंह असवारू॥
दीन्ह पत्र लिखि, वेगि चलावा।
चितउर-गढ़ राजा पहँ आवा॥

राजै पत्रि वँचावा, लिखी जो करा अनेग।
सिंघल कै जो पदमिनी, पठै देहु तेहि वेग॥१०॥

---

(३) बादशाह चढ़ाई-खंड

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा।
जानौं दैउ तड़पि घन गाजा॥
का मोहि सिंह देखावसि आई।
कहौं तौ सारदूल धरि खाई॥
भलेहि साह पुहुमीपति भारी।
माँग न कोइ पुरुष कै नारी॥

तबहीं व्याध सुआ लेइ आवा।
कंचन-बरन अनूप सुहावा ॥
बंचै लाग हाट लै ओही।
मोल रतन मानिक जहँ होही ॥
बाम्हन आइ सुआ सौं पूछा।
दहुँ गुनवंत कि निरगुन छूछा ? ॥
पंडित हौ तौ सुनावहु वेदू।
बिनु पूछे पाइय नहि भेदू ॥
हौं बाम्हन औ पंडित कहु आपन गुन सोइ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै दून लाभ तेहि होइ ॥२॥
तब गुन मोहि अहा, हो देवा !
जब पिंजर हुत छूट परेवा ॥
अब गुन कौन जो बँद, जजमाना।
घालि मँजूसा बेचै आना ॥
रोवत रकत भएउ मुख राता।
तन भा पियर, कहौं का बाता ? ॥
सुनि बाम्हन बिनवा चिरिहारू।
करि पंखिन्ह कहँ मया न मारू ॥
निठुर होइ जिउ बधसि परावा।
हत्या केर न तोहि डर आवा ॥
कहसि पंखि का दोस जनावा।
निठुर तेइ जे परमँस खावा ॥
जौ न होहिं अस परमँस-खाधू।
कित पंखिन्ह कहँ धरै बियाधू ॥
बाम्हन सुआ बेसाहा सुनि मति वेद गरंथ।
मिला आइ कै साथिन्ह भा चितउर के पंथ ॥३॥

महूँ समुझि अस अगमन सजि राखा गढ़ साजु।
काल्हि होइ जेहि आवन सो चलि आवै आजु ॥१२॥

सरजा पलटि साह पहँ आवा।
देव न मानै बहुत मनावा॥
सुनि कै अस राता सुलतानू।
जैसे तपै जेठ कर भानू॥
सहसौ करा रोष अस भरा।
जेहि दिसि देखै तेइ दिसि जरा॥
दुंद घाव भा, इंद्र सकाना।
डोला मेरु, सेस अकुलाना॥
धरती डोलि, कमठ खरभरा।
मथन-अरंभ समुद महँ परा॥
साह बजाइ चढ़ा, जग जाना।
तीस कोस भा पहिल पयाना॥
बरन बरन औ पाँतिहि पाँती।
चली सो सेना भाँतिहि भाँती॥

सात सात जोजन कर एक दिन होइ पयान।
अगिलहि जहाँ पयान होइ पछिलहि तहाँ मिलान ॥१३॥

डोले गढ़, गढ़पति सब काँपे।
जीउ न पेट, हाथ हिय चाँपे॥
काँपा रनथँभउर, गढ़ डोला।
नरवर गएउ झुराइ, न बोला॥
दूतन्ह आइ कहा जहँ राजा।
चढ़ा तुरुक आवै दर साजा॥

तव लगि चित्रसेन सव साजा।
रतनसेन चितउर भा राजा॥
आइ वात तेहि आगे चली।
राजा वनिज आए सिंघली॥
हैं गजमोति भरी सव सीपी।
और वस्तु वहु सिंघलदीपी॥
वाम्हन एक सुआ लेइ आवा।
कंचन-वरन अनूप सोहावा॥
राते स्याम कंठ दुइ काँठा।
राते डहन लिखा सव पाठा॥
औ दुइ नयन सुहावन राता।
राते ठोर अमी-रस वाता॥
मस्तक टीका, काँध जनेऊ।
कवि वियास, पण्डित सहदेऊ॥
वोल अरथ सौं वोलै सुनत सीस सव डोल।
राज-मँदिर महँ चाहिय अस वह सुआ अमोल॥४॥

भै रजाइ जन दस दौराए।
वाम्हन सुआ वेगि लेइ आए॥
विप्र असीसि 'विनति औधारा।
सुआ जींउ नहिं करौं निरारा॥
पै यह पेट महा विसवासी।
जेइ सव नाव तपा सन्यासी॥
सुवा असीस दीन्ह वड़ साजू।
वड़ परताप अखंडित राजू॥
कोइ विनु पूछे वोल जो वोला।
होइ वोल माँटी के मोला॥

गगन धरति जेहि टेका, तेहि का गरू पहार ? ।
जौ लहि जिउ काया महँ, परै सो अँगवै भार ॥१५॥

बादसाह हठि कीन्ह पयाना ।
इंद्र-भँडार डोल, भय माना ॥
टूटहिं परवत मेरु पहारा ।
होइ चकचून उड़हिं तेहि झारा ॥
गगन छपान खेह तस छाई ।
सूरुज छपा, रैनि होइ आई ॥
दिनहिं रात अस परी अचाका ।
भा रवि अस्त, चंद्र, रथ हाँका ॥
मंदिर जगत दीप परगसे ।
पंथी चलत बसेरे बसे ॥
दिन के पंखि चरत उड़ि भागे ।
निसि के निसरि चरै सब लागे ।
कँवल सँकेता; कुमुदिन फूली ।
चकवा बिछुरा, चकई भूली ॥
चला कटक-दल ऐस अपूरी ।
अगिलहि पानी, पछिलहि धूरी ॥
महि उजरी, सायर सब सूखा ।
बनखंड रहेउ न एको रूखा ॥
जिन्ह घर खेह हेराने हेरत फिरत सो खेह ।
अब तौ दिस्टि तब आवै अंजन नैन उरेहु ॥१६॥

एहि बिधि होत पयान सो आवा ।
आइ साह चितउर नियरावा ॥
राजै कहा करहु जो करना ।
भएउ असूझ, सूझ अब मरना ॥

गुनी न कोई आपु सराहा ।
जो बिकाइ गुन कहा सो चाहा ॥
जौ लहि गुन परगट नहिं होई ।
तौ लहि मरम न जानै कोई ॥
चतुरवेद हौं पण्डित हीरामन मोहिं नावँ ।
पदमावति सौं मेरवौं सेव करौं तेहि ठावँ ॥५॥
रतनसेन हीरामन चीन्हा ।
एक लाख बाम्हन कहँ दीन्हा ॥

---

(२) नागमती-सुवा संवाद

दिन दस पाँच तहाँ जो भए ।
राजा कतहुँ अहेरै गए ॥
नागमती रूपवंती रानी ।
सब रनिवास पाट-परधानी ॥
कै सिंगार कर दरपन लीन्हा ।
दरसन देखि गरब जिउ कीन्हा ॥
बोलहु सुआ पियारे—नाहाँ ।
मोरे रूप कोइ जग माहाँ ? ॥
सुआ बानि कसि कहु कस सोना ।
सिंघलदीप तोर कस लोना ? ॥
कौन रूप तोरी रूपमनी ।
दहु हौं लोनि कि वै पदमिनी ? ॥
जो न कहसि सत सुअटा तोहि राजा कै आन ।
है कोई एहि जगत महँ मोरे रूप समान ॥६॥

देखि अनी राजा कै जग होइ गएउ असूझ ।
दहुँ कस होवै चाहै चाँद सूर के जूझ ।।१८।।

---

(५) राजा-बादशाह-युद्ध खण्ड

इहाँ राज अस सेन बनाई ।
जहाँ साह कै भई अवाई ।।
अगिले दौरे आगे आए ।
पछिले पाछ कोस दस छाए ।।
साह आइ चितउर गढ़ बाजा ।
हस्ती सहस बीस सँग साजा ।।
ओनइ आए दूनौ दल साजे ।
हिंदू तुरक दुवौ रन गाजे ।।
दुवौ समुद दधि उदधि अपारा ।
दूनौ खिखिंद पहारा ।।
कोपि जभार दवौ ।

सुमिरि रूप पदमावति केरा ।
हँसा सुआ, रानी मुख हेरा ॥
जेहिं सरवर महँ हंस न आवा ।
बगुला तेहि सर हंस कहावा ॥
दई कीन्ह अस जगत अनूपा ।
एक एक तें आगरि रूपा ॥
कै मन गरब न छाजा काहू ।
चाँद घटा औ लागेउ राहू ॥
लोनि बिलोनि तहाँ को कहै ।
लोनी सोई कंत जेहि चहै ॥
का पूँछहु सिंघल कै नारी ।
दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी ॥
पुहुप सुवास सो तिन्ह कै काया ।
जहाँ माथ का बरनौं पाया ? ॥
गढ़ी सो सोने सोंधै भरी सो रूपै भाग ।
सुनत रूखि भइ रानी हिये लोन अस लाग ॥७॥
जो यह सुआ मँदिर महँ अहई ।
कबहुँ बात राजा सौं कहई ॥
सुनि राजा पुनि होइ वियोगी ।
छाँड़े राज, चलै होइ जोगी ॥
बिख राखिय नहिं, अँकूरू ।
सबद न देइ भोर तमचूरू ॥
धाय दामिनी-बेग हँकारी ।
ओहि सौंपा हीये रिस भारी ॥
देखु, सुआ यह है मँदचाला ।
भएउ न ताकर जाकर पाला ॥

कटक असूझ अलाउदि-साही।
आवत कोइ न सँभारे ताही।
उदधि-समुद जस लहरैं देखीं।
नयन देखि, मुख जाइ न लेखी॥
लाख जाहिं आवहिं दुइ लाखा।
फरै झरै उपनै नव साखा॥
लाग कटक चारिहु दिसि, गढ़हि परा अगिदाहु।
सुरुज गहन भा चाहै, चाँदहि भा जस राहु॥२१॥
चारि पहर दिन जूझ भा, गढ़ न टूट तस बाँक।
गरुअ होत पै आवै दिन दिन नाकहि नाक॥२२॥
आठ बरिस गढ़ छेंका रहा।
धनि सुलतान, कि राजा महा॥
आइ साइ अँबराब जो लाए।
फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए॥
जौ तोरौं तौ जौहर होई।
पदमिनि हाथ चढ़ै नहिं सोई॥
एहि विधि ढील दीन्ह, तब ताईं।
दिल्ली तैं अरदासैं आईं॥
पछिउँ हरेव दीन्हि जो पीठी।
सो अब चढ़ा सौंह कै दीठी॥
जिन्ह भुइँ माथ, गगन तेइ लागा।
थाने उठे, आव सब भागा॥
उहाँ साह चितउरगढ़ छावा।
इहाँ देस अब होइ परावा॥
जिन्ह जिन्ह पंथ न तृन परत, बाढ़े बेर बबूर।
निसि अँधियारी जाइ तब बेगि उठै जौ सूर॥२३॥

———

मुख कह आन, पेट बस आना ।
तेहि औगुन दस हाट बिकाना ॥
पंखि न राखिय होइ कुभाखी ।
लेइ तहँ मारु जहाँ नहिं साखी ॥

जेहि दिन कहँ मैं डरति हौं रैन छपावौं सूर ।
लै चह दीन्ह कवँल कहँ मोकहँ होइ मयूर ॥८॥

धाय सुआ लेइ मारै गई ।
समुझि गियान हिये मति भई ॥
सुआ सो राजा कर बिसरामी ।
मारि न जाइ चहै जेहि स्वामी ॥
मकु यह खोज होइ निसि आए ।
तुरय-रोग हरि-माथे जाए ॥
राखा सुआ धाय मति साजा ।
भएउ खोज निसि आयउ राजा ॥
रानी उतर मान सौं दीन्हा ।
पंडित सुआ मजारी लीन्हा ॥
राजै सुनि वियोग तस माना ।
जैसे हिय विक्रम पछिताना ॥
की परान घट आनहु मती ।
की चलि होहु सुआ सँग सती ॥

जिनि जानहु कै औगुन मँदिर होइ सुखराज ।
आयसु मेटें कन्त कर काकर भा न अकाज ? ॥६॥

चाँद जैस धनि उजियरि अही ।
भा पिउ-रोस, गहन अस गही ॥

जेहि के देहरी पृथिवी सेही।
चहै तौ मारै औ जिउ लेई ॥
पिंजर माहँ तोहि कीन्ह परेवा।
गढ़पति सोइ बाँचै कै सेवा ॥
जौ लगि जीभ अहै मुख तोरे।
सँवरि उघेलु विनय कर जोरे ॥
पुनि जौ जीभ पकरि जिउ लेई।
को खोलै, को बोलै देई ? ॥
आगे जस हमीर मैमंता।
जौ तस करसि तोर भा अंता ॥

देखु ! काल्हि गढ़ टूटै, राज ओही कर होइ।
करु सेवा सिर नाइ कै, घर न घालु बुधि खोइ ॥२॥

सरजा ! जौ हमीर अस ताका।
और निबाहि बाँधि गा साका ॥
हौं सक-बंधी ओहि अस नाहीं।
हौं सो भोज विक्रम उपराहीं ॥
बरिस साठ लगि साँठि न खाँगा।
पानि पहार चुवै बिनु माँगा ॥
तेहि ऊपर जौ पै गढ़ टूटा।
सत सकबंधी केर न छूटा ॥
सोरह लाख कुँवर हैं मोरे।
परहिं पतँग जस दीप-अँजोरे ॥
जेहि दिन चाँचरि चाहौं जोरी।
समदौं फागु लाइ कै होरी ॥
जौ निसि बीच, डरै नहि कोई।
देखु तौ काल्हि काह दहुँ होई ॥

(३) राजा-सुआ संवाद खण्ड

राजै कहा सत्य कहु सूआ ।
बिनु सत जस सेंवर कर भूआ ॥
होइ मुख रात सत्य के बाता ।
जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता ॥
बाँधी सिहिट अहै सत केरी ।
लछिमी अहै सत्य कै चेरी ॥
सत्य कहत राजा जिउ जाऊ ।
पै मुख असत न भाखौं काऊ ॥
पदमावति राजा कै बारी ।
पदुम-गंध ससि बिधि औतारी ॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि रानी ।
कनक सुगंध दुआदस बानी ॥
अहैं जो पदमिनि सिंघल माहाँ ।
सुगँध रूप सब तिन्हकै छाहाँ ॥
हीरामन हौं तेहिक परेवा ।
कंठा फूट करत तेहि सेवा ॥
औ पाएउँ मानुप कै भाषा ।
नाहिं त पंखि मूठि भर पाँखा ॥
जौ लहि जिऔं राति दिन सवँरौं ओहि कर नावँ ।
मुख राता, तन हरियर दुहूँ जगत लेइ जावँ ॥१२॥
हीरामन जो कवँल बखाना ।
सुनि राजा होइ भँवर भुलाना ॥

आस पास सरवर चहुँ पासा।
माँझ मँदिर जनु लाग अकासा॥
परगट कह राजा सौं बाता।
गुपुत प्रेम पदमावति-राता॥
गोरा बादल राजा पाहाँ।
रावत दुवौ दुवौ जनु बाहाँ॥
आइ स्त्रवन राजा के लागे।
मूसि न जाहिं पुरुष जो जागे॥
बाचा परखि तुरुक हम बूझा।
परगट मेर, गुपुत छल सूझा॥
तुम नहिं करौ तुरुक सौं मेरू।
छल पै करहिं अंत कै फेरू॥

यह सो कृस्न बलिराज जस, कीन्ह चहै छर-बाँध।
हम्ह बिचार अस आवै, मेर न दीजिय काँध॥६॥

सुनि राजहि यह बात न भाई।
जहाँ मेर तहँ नहिं अधमाई॥
मंदहि भले जो करै भल सोई।
अंतहि भला भले कर होई॥
सत्रु जो विष देइ चाहै मारा।
दीजिय लोन जानि विष हारा॥
कौरव विष जो पंडवन्ह दीन्हा।
अंतहि दाँव पंडवन्ह लीन्हा॥
राजा कै सोरह सै दासी।
तिन्ह मँह चुनी काढ़ी चौरासी॥
बरन बरन सारी पहिराईं।
निकसि मँदिर तें सेवा आईं॥

को राजा, कस दीप उतंगू।
जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू॥
सुनि समुद्र भा चख किलकिला।
कवँलहि चहौं भँवर होइ मिला॥
कहु सुगंध धनि कस निरमली।
भा अलि-संग, कि अवहीं कली? ॥
का राजा हौं वरनौं तासू।
सिंघलदीप आहि कैलासू॥
जो गा तहाँ भुलाना सोई।
गा जुग वीति न वहुरा कोई॥
गंध्रवसेन तहाँ वड़ राजा।
अछरिन्ह महँ इंद्रासन साजा॥
सो पदमावति तेहिं कर वारी।
जो सब दीप माँह उजियारी॥
चहूँ खंड के वर जा ओनाहीं।
गरवहि राजा वोलै नाहीं॥

उअत सूर जस देखिय चाँद छपै तेहि धूप।
ऐसै सबै जाहिं छपि पदमावति के रूप॥१३॥

सुनि रवि-नावँ रतन भा राता।
पंडित फेरि उहै कहु वाता॥
तैं सुरंग मूरति वह कही।
चित महँ लागि चित्र होइ रही॥
जनु होइ सुरुज आइ मन वसी।
सब घट पूरि हिये परगसी॥

खेलहिं दुओौ साह ओौ राजा।
साह कै रुख दरपन रह साजा॥
सूर देख जौ तरई-दासी।
जहँ ससि तहाँ जाइ परगासी॥
सुना जो हम दिल्ली सुलतानू।
देखा आजु तपै जस भानू॥
ऊँच छत्र जाकर जग माहाँ।
जग को छाहँ सब ओहिकै छाहाँ॥

बादसाह दिल्ली कर कित चितउर महँ आव।
देखि लेहु, पदमावति! जेहि न रहै पछिताव॥६॥

बिगसै कुमुद कहे ससि ठाऊँ।
बिगसै कँवल सुने रवि-नाऊँ॥
भइ निसि, ससि धौराहर चढ़ी।
सोरह कला जैस विधि गढ़ी॥
बिहँसि झरोखे आइ सरेखी।
निरखि साह दरपन महँ देखी॥
होतहि दरस परस भा लोना।
धरती सरग भएउ सब सोना॥
रुख माँगत रुख ता सहुँ भएऊ।
भा शह मात, खेल मिटि गएऊ॥
राजा भेद न जानै झाँपा।
भा बिसँभार, पवन बिनु काँपा॥
राघव कहा कि लागि सोपारी।
लेइ पौढ़ावहिं सेज सँवारी॥
राघव चेति साह पहँ गएऊ।
सूरज देखि कँवल बिसमयऊ॥

अब हौं सुरुज चाँद वह छाया।
जल बिनु मीन, रकत बिनु काया॥
पेम सुनत मन भूल न राजा।
कठिन पेम, सिर देइ तौ छाजा॥
पेम-फाँद जो परा न छूटा।
जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा॥
जान पुछार जो भा बनवासी।
रोंव रोंव परे फँद नगवासी॥
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू।
उड़ि न सकै अरुझा भा बाँदू॥
'मुयों मुयों' अहनिसि चिल्लाई।
ओही रोस नागन्ह धै खाई॥
तीतिर-गिउ जो फाँद है निति पुकारै दोख।
सो कित हँकारि फाँद गिउ (मेलै) कित मारे होइ मोख॥१४॥
राजै लीन्ह ऊबि कै साँसा।
ऐस बोल जिनि बोलु निरासा॥
भलेहि पेम है कठिन दुहेला।
दुइ जग तरा पेम जेइ खेला॥
दुख भीतर जो पेम-मधु राखा।
जग नहिं मरन सहै जो चाखा॥
जो नहीं सीस पेम-पंथ लावा।
सो प्रिथिमी महँ काहे क आवा?॥
अब मैं पेम-पन्थ सिर मेला।
पाँव न ठेलु, राखि कै चेला॥
पेम-बार सो कहै जो देखा।
जो न देख, का जान बिसेखा॥

चाँद घरहि जो सूरुज आवा।
होइ सो अलोप अमावस पावा॥
पूछहिं नखत मलीन सो मोती।
सोलह कला न एकौ जोती॥
चाँद क गहन अगाह जनावा।
राज भूल गहि साह चलावा॥
एहि जग बहुत नदी-जल जूड़ा।
कोउ पार भा, कोऊ बूड़ा॥
कोउ अंध भा आगु न देखा।
कोउ भएउ डिठियार सरेखा॥
राजा कहँ बियाध भइ माया।
तजि कैलास धरा भुइँ पाया॥
चारा मेलि धरा जस माछू।
जल हुँत निकसि मुवै कित काछू?॥
पायँन्ह गाढ़ी बेड़ी परी।
साँकर गीउ, हाथ हथकरी॥
औ धरि बाँधि मँजूषा मेला।
ऐस सत्रु जिनु होइ दुहेला!॥
सुनि चितउर महँ परा बखाना।
देस देस चारिउ दिसि जाना॥

आजु धरा बलि राजा, मेला बाँधि पतार।
आजु सूर दिन अथवा, भा चितउर अँधियार॥१२॥

साहि लीन्ह गहि कीन्ह पयाना।
जो जहँ सत्रु सो तहाँ बिलाना॥
उवा सूर, भइ सामुँह करा।
पाला फूट, पानि होइ ढरा॥

तो लगि दुख पीतम नहिं भेंटा।
मिलै, तौ जाइ जनम-दुख मेटा ॥
जस अनूप, तैं बरनेसि, नखसिख बरनु सिंगार।
है मोहिं आस मिलै कै जौं मेरवै करतार ॥१५॥

---

(४) नखशिख-खण्ड

का सिंगार ओहि बरनौं, राजा।
ओहिक सिंगार ओही पै छाजा ॥
प्रथम सीस कस्तूरी केसा।
बलि बासुकि, का और नरेसा ? ॥
भौंर केस, वह मालति रानी।
बिसहर लुरे लेहिं अरघानी ॥
बेनी छोरि झार जौं बारा।
सरग पतार होइ अँधियारा ॥
बरनौं माँग सीस उपराहीं।
सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं ॥
बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ।
उजियर पँथ रैनि महँ कीआ ॥
कँचन रेख कसौटी कसी।
जनु घन महँ दामिनि परगसी ॥
सुरुज-किरिन जनु गगन बिसेखी।
जमुना माहँ सुरसती देखी ॥
खाँड़े धार रुहिर जनु भरा।
करवत लेइ बेनी पर धरा ॥

को गुरु अगुवा होई, सखि ! मोहि लावै पथ माहँ ।
तन मन धन बलि बलि करौं जो रे मिलावै नाह ॥ ३ ॥

पिय बिनु व्याकुल बिलपै नागा ।
बिरहा-तपनि साम भए कागा ॥
पवन पानि कहँ सीतल पीऊ ? ।
जेहि देखे पलुहै तन जीऊ ॥
कहँ सो बास मलयगिरि नाहा ।
जेहि कल परति देत गल बाहाँ ॥
पदमिनि ठगिनी भइ कित साथा ।
जेहिं तें रतन परा पर-हाथा ॥
होइ बसंत आवहु पिय केसरि ।
देखे फिर फूलै नागेसरि ॥
तुम्ह बिनु, नाह ! रहै हिय तचा ।
अब नहिं बिरह-गरुड़ सौं बचा ॥
अब अँधियार परा, मसि लागी ।
तुम्ह बिनु कौन बुझावै आगी ? ॥

नैन, स्रवन, रस रसना सबै खीन भए, नाह ।
कौन सो दिन जेहि भेंटि कै, आइ करै सुख-छाँह ॥ ४ ॥

---

(२) पद्मावती-गोरा-बादल-संवाद

सखिन्ह बुझाई दगध अपारा ।
गइ गोरा बादल के बारा ॥
"उलटि बहा गंगा कर पानी ।
सेवक-बार आइ जो रानी" ॥

कनक दुवादस वानि होइ चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत सब उवै गगन जस गाँग ॥१६॥

कहौं लिलार दुइज कै जोती।
दुइजहि जोति कहाँ जग ओती॥
सहस किरिन जो सुरुज दिपाई।
देखि लिलार सोउ छपि जाई॥
का सरवरि तेहि देउँ मयंकू।
चाँद कलंकी, वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गहासा।
वह विनु राहु सदा परगासा॥
तेहि लिलार पर तिलक वईठा।
दुइज-पाट जानहु धुव दीठा॥
भौंहैं स्याम धनुक जनु ताना।
जा सहुँ हेर मार विप वाना॥
हनै धुनै उन्ह भौंहनि चढ़े।
केइ हतियार काल अस गढ़े?॥
उहै धनुक मैं तापहँ चीन्हा।
धानुक आप वेझ जग कीन्हा॥
उन्ह भौंहनि सरि केउ न जीता।
अछरी छपीं, छपीं गोपीता॥
भौंह धनुक, धनि धानुक, दूसर सरि न कराइ।
गगन धनुक जो ऊगै लाजहि सो छपि जाइ ॥१७॥

नैन बाँक, सरि पूज न कोऊ।
मानसरोदक उलथहिं दोऊ॥
राते कँवल करहिं अलि भवाँ।
घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ॥

जैसे जरत लखाघर, साहस कीन्हा भाउँ।
जरत खंभ तस काढ़हु, कै पुरुषारथ जीउ ॥६॥

---

(३) गोरा-बादल युद्ध-यात्रा-खण्ड

बादल केरि जसोवे माया।
आइ गहेसि बादल कर पाया॥
बादल राय! मोर तुइ बारा।
का जानसि कस होइ जुझारा॥
बरिसहिं सेल बान घनघोरा।
धीरज धीर न बाँधहि तोरा॥
मातु! न जानसि बालक आदी।
हौं बादला सिंघ रनबादी॥
सुनि गज-जूह अधिक जिउ तपा।
सिंघ के जाति रहै किमि छपा?॥
तौलगि गाज, न गाज सिंघेला।
सौंह साह सौं जुरौं अकेला॥
बादल गवन जूझ कर साजा।
तैसहि गवन आइ घर बाजा॥

गवन जो आवा पँवरि महँ, पिउ गवने परदेस।
सखी बुझावहिं किमि अनल, बुझै सो केहि उपदेश?॥७

रहौं लजाइ त पिउ चलै, गहौं त कह मोहिं ढीठ।
ठाढ़ि तेवानि कि का करौं, दूभर दुऔ बईठ॥८॥

लाज किए जौ पिउ नहिं पावौं।
तजौं लाज कर जोरि मनावौं॥

उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा ।
चाहहिं उलथि गगन कहँ लागा ॥
समुद-हिलोर फिरहिं जनु भूले ।
खंजन लरहिं, मिरिग जनु भूले ॥
बरुनी का बरनौं इमि बनी ।
साधे बान जानु दुइ अनी ॥
जुरी राम रावन कै सैना ।
बीच समुद्र भए दुइ नैना ॥
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ? ।
बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने ।
वै सब बान ओही के हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी ।
साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
बरुनि-बान अस ओपहँ बेधे रन बन-ढाँख ।
सौजहिं तन सब रोवाँ पंखिहिं तन सब पाँख ॥१८॥
नासिक खरग देउँ कह जोगू ।
खरग खीन, वह बदन-सँजोगू ॥
नासिक देखि लजानेउ सूआ ।
सूक आइ बेसरि होइ ऊआ ॥
पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा ।
मकु हिरकाइ लेइ हम पासा ॥
अधर दसन पर नासिक सोभा ।
दारिउँ विंब देखि सुक लोभा ॥
खँजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं ।
दहुँ वह रस कोउ पाव कि नाहिं ॥

छाँड़ि चला, हिरदय देइ दाहू ।
निठुर नाह आपन नहिं काहू ॥
रोए कंत न बहुरै, तेहि रोए का काज ?
कंत धरा मन जूझ रन, धनि साजा सर साज ॥१०॥

---

(४) गोरा-बादल-युद्ध-खण्ड

मतैं बैठि बादल औ गोरा ।
सो मत कीज परै नहिं भोरा ॥
सुबुधि सौं ससा सिंघ कहँ मारा ।
कुबुधि सिंघ कूआँ परि हारा ॥
जस तुरकन्ह राजा छर साजा ।
तस हम साजि छोड़ावहिं राजा ॥
सोरह सै चंडोल सँवारे ।
कुँवर सजोइल कै बैठारे ॥
पद्मावति कर सजा बिवानू ।
बैठ लोहार न जानै भानू ॥
साजि सबै चंडोल चलाए ।
सुरँग ओहार, मोति बहु लाए ॥
भए सँग गोरा बादल बली ।
कहत चले पद्मावति चली ॥
राजहि चलीं छोड़ावै तहँ रानी होइ ओल ।
तीस सहस तुरि खिचीं सँग, सौरह सै चंडोल ॥११॥

राजा बँदि जेहि के सौंपना ।
गा गोरा तेहि पहँ अगमना ॥

अधर सुरंग अमी-रस-भरे ।
बिंब सुरंग लाजि बन फरे ॥
हीरा लेइ सो विद्रुम-धारा ।
बिहँसत जगत होइ उजियारा ॥
अस कै अधर अमी भरि राखे ।
अबहिं अछूत, न काहू चाखे ॥
अमी अधर अस राजा सब जग आस करेइ ।
केहि कहँ कवँल बिगासा को मधुकर रस लेइ ॥१६॥
दसन चौक बैठे जनु हीरा ।
औ बिच बिच रँग स्याम गँभीरा ॥
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी ।
चमकि उठै तस बनी बतीसी ॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं ।
हीरा-जोति सो तेहि परछाहीं ॥
जेहि दिन दसनजोति निरमई ।
बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती ।
रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी ।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी ।
पुनि ओह जोति और को दूजी ॥
हँसत दसन अस चमके पाहन उठे छरकि ।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि ॥२०॥
रसना कहौं जो कह रस बाता ।
अमृत-बैन सुनत मन राता ॥

पद्मावति के भेस लोहारू।
निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू॥
उठा कोपि जस छूटा राजा।
चढ़ा तुरंग, सिंघ अस गाजा॥
गोरा बादल खाँड़े काढ़े।
निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े॥
तीख तुरंग गगन सिर लागा।
केहूँ जुगुति करि टेकी बागा॥
जो जिउ ऊपर खड्ग सँभारा।
मरनहार सो सहसन्ह मारा।

भई पुकार साह सौं, ससि औ नखत सो नाहिं।
छर कै गहन गरासा, गहन गरासे जाहिं॥१३॥

लेइ राजा चितउर कहँ चले।
छूटेउ सिंघ, मिरिग खलभले॥
चढ़ा साहि, चढ़ि लाग गोहारी।
कटक असूझ परी जग कारी॥
फिरि गोरा बादल सौं कहा।
गहन छूटि पुनि चाहै गहा॥
चहुँ दिसि आवै लोपत भानू।
अब इहै गोइ, इहै मैदानू॥
तुइ अब राजहि लेइ चलु गोरा।
हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा॥
वह चौगान तुरुक कस खेला।
होइ खेलार रन जुरौं अकेला॥
तौ पावौं बादल अस नाऊँ।
जौं मैदान गोइ लेइ जाऊँ॥

मरे प्रेम-रस ओलै बोला ।
सुनै सो माति घूमि कै डोला ॥
पुनि बरनौं का सुरँग कपोला ।
एक नारँग दुइ किए अमोला ॥
तेहि कपोल बाँए तिल परा ।
जेइ तिल देख सो तिल तिल जरा ॥
देखत नैन परी परछाहीं ।
तेहि तें रात साम उपराहीं ॥
स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे ।
कुंडल कनक रचे उजियारे ॥
मनि-कुंडल झलकैं अति लोने ।
जनु कौंधा लौकहि दुइ कोने ॥
बरनौं गींउ कंबु कै रीसी ।
कंचन-तार-लागि जनु सीसी ॥
कुंदै फेरि जानु गिउ काढ़ी ।
हरी पुछार ठगी जनु ठाढ़ी ॥
गए मयूर तमचूर जो हारे ।
उहै पुकारहिं साँझ सकारे ॥
कंठसिरी मुकुतावली सोहै अभरन गींउ ।
लागै कंठहार होइ को तप साधा जीउ ? ॥२१॥
कनक-दंड दुइ भुजा कलाई ।
जानौं फेरि कुँदेरै भाई ॥
कदलि-गाभ कै जानौ जोरी ।
औ राती ओहि कँवल-हथोरी ॥
उतँग जँभीर होइ रखवारी ।
छुइ को सकै राजा कै बारी ॥

टूटहिं सीस, अधर धर मारै।
लोटहि कंधहिं कंध निरारै॥
कोई परहिं रुहिर होई राते।
कोई घायल घूमहिं माते॥

घरी एक भारत भा, भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवर सब निबरे, गोरा रहा अकेल॥१६

गोरै देख साथि सब जूझा।
आपन काल नियर भा, बूझा॥
कोपि सिंघ सामुहँ रन मेला।
लाखन्ह सौं नहिं मरै अकेला॥
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा।
जैसे पवन बिदारै घटा॥
जेहि सिर देइ कोप करवारू।
स्यों घोड़े टूटै असवारू॥
लोटहिं सीस कबंध निनारे।
माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे॥
खेलि फाग सेंदुर छिरकावा।
चाँचरि खेल आगि जनु लावा॥
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका।
ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका॥

भइ अज्ञा सुलतानी, "बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगे लिए पदारथ साथ"॥

सबै कटक मिलि गोरहि छेका।
गूँजत सिंघ जाइ नहिं टेका॥
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा।
पलटि सिंघ तेहि ठावँ न आवा॥

पेट परत जनु चंदन लावा ।
कुहँ कुहँ केसर बरन सुहावा ॥
साम भुअंगिनि रोमावली ।
नाभी निकसि कँवल कहँ चली ॥
आइ दुऔ नारँग बिच भई ।
देखि मयूर ठमकि रहि गई ॥
मलयागिरि कै पीठि सँवारी ।
बेनी नागिनि चढ़ी जो कारी ॥
लहरैं देति पीठि जनु चढ़ी ।
चीर-ओहार केंचुली मढ़ी ॥
कारे कवँल गहे मुख देखा ।
ससि पाछे जनु राहु बिसेखा ॥
पन्नग पंकज मुख गहे खंजन तहाँ बईठ ।
छत्र, सिंघासन, राज, धन ताकहँ होइ जो डीठ ॥२२॥

कमर लंक पुहुमि अस आहि न काहू ।
केहरि कहौं न ओहि सरि ताहू ॥
बसा लंक बरनै जग झीनी ।
तेहि तें अधिक लंक वह खीनी ॥
परिहँस पियर भए तेहि बसा ।
लिए डंक लोगन्ह कहँ डसा ॥
मानहुँ नाल खंड दुइ भए ।
दुहुँ बिच लंक-तार रहि गए ॥
नाभिकुंड सो मलय-समीरू ।
समुद-भँवर जस भँवै गँभीरू ॥
जुरे जंघ सोभा अति पाए ।
केरा-खंभ फेरि जनु लाए ॥

जानहु बज्र बज्र सौं बाजा।
सब ही कहा परी अब गाजा॥
तस मारा हठि गोरै, उठी बज्र कै आगि।
कोइ नियरे नहिं आव सिंघ सदूरहिं लागि॥१९॥

तब सरजा कोपा बरिबंडा।
जनहु सदूर केर भुजदंडा॥
कोपि गरजि मारेसि तस बाजा।
जानहु परी टूटि सिर गाजा॥
ठाँठर टूट, फूट सिर तासू।
स्यो सुमेरु जनु टूट अकासू॥
धमकि उठा सब सरग पतारू।
फिर गइ दीठि, फिरा संसारू॥
भइ परलय अस सब ही जाना।
काढ़ा खरग सरग नियराना॥
तस मारेसि स्यों घोड़े काटा।
धरती फाटि, सेस-फन फाटा॥
जौ अति सिंह बरी होइ आई।
सारदूल सौं कौनि बड़ाई?॥
गोरा परा खेत महँ, सुर पहुँचावा पान।
बादल लेइगा राजा, लेइ चितउर नियरान॥२०॥

———

अति रात बिसेखी ।
रहै पाट पर, पुहुमि न देखी ॥
कोउ अस पावा ।
चरन-कवँल लेइ सीस चढ़ावा ॥
सुरुज उजियारा ।
पायल बीच करहिं झनकारा ॥
ार न जानेउँ नख सिख जैस अभोग ।
छुइ न पाएउँ उपमा देउँ ओहि जोग ॥२३॥

---

(५) प्रेम-खण्ड

ाजा गा मुरछाई ।
जानौं लहरि सुरुज कै आई ॥
दुख जान न कोई ।
जेहि लागै जानै पै सोई ॥
पेम-समुद्र अपारा ।
लहरहिं लहर होइ बिसँभारा ॥
होइ भाँवरि देई ।
खिन खिन जीउ हिलोरा लेई ॥
ास बूड़ि जिउ जाई ।
खिनहिं उठै निसरै बौराई ॥
ा, खिन होइ मुख सेता ।
खिनहिं चेत, खिन होइ अचेता ॥
ान तें प्रेम-बेवस्था ।
ना जिउ जियै, न दसवँ अवस्था ॥
नहार न लेहिं जिउ हरहिं तरासहिं ताहि ।
ल आव मुख करैं "तराहि तराहि" ॥२४॥

सीस काटि कै बैरी बाँधा।
पावा दावँ बैर जस साधा॥
जियत फिरा आएउ बल-भरा।
माँझ बाट होइ लोहै धरा॥
कारी घाव जाइ नहि डोला।
रही जीभ जम गही, को बोला?॥

सुधि बुधि तौ सब बिसरी, भार परा मँझ बाट।
हस्ति घोर को का कर? घर आनी गइ खाट॥२५॥

तौ लहि साँस पेट महँ अही।
जौ लहि दसा जीउ कै रही॥
काल आइ देखराई साँटी।
उठि जिउ चला छोड़ि कै माटी॥
काकर लोग, कुटुँब, घर बारू।
काकर अरथ दरब संसारू?॥
ओही घरी सब भएउ परावा।
आपन सोइ जो परसा, खावा॥
अहे जे हितू साथ के नेगी।
सबै लाग काढ़ै तेहि वेगी॥
हाथ झारि जस चलै जुवारी।
तजा राज, होइ चला भिखारी॥
जब हुत जीउ, रतन सब कहा।
भा बिनु जीउ, न कौड़ी लहा॥

गढ़ सौंपा बादल कहँ, गए टिकठि बसि देव।
छोड़ी राम अजोध्या, जो भावै सो लेव॥२६॥

चँद्र-वदन औ चंदन-देहा ।
भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा ।
सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा ॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला ।
कर उदुपान, काँध बघछाला ॥
चला भुगुति माँगै कहँ साधि कया तप जोग ।
सिद्ध होइ पदमावति जेहि कर हिये वियोग ॥२७॥

गनक कहहिं गनि गौन न आजू ।
दिन लेइ चलहु, होइ सिध काजू ॥
पेम-पंथ दिन घरी न देखा ।
तब देखै जब होइ सरेखा ॥
चहुँ दिसि आन साँटिया फेरी ।
भै कटकाई राजा केरी ॥
रोवत माय, न बहुरत बारा ।
रतन चला, घर भा अँधियारा ॥
रोवहिं रानी, तजहिं पराना ।
नोचहिं बार, करहिं खरिहाना ॥
चूरहिं गिउ-अभरन, उर-हारा ।
अब का पर हम करब सिंगारा ? ॥
जा कहँ कहहिं रहसि कै पीऊ ।
सोइ चला, काकर यह जीऊ ॥
टूटे मन नौ मोती फूटे मन दस काँच ।
लीन्ह समेटि सब अभरन होइगा दुख कर नाच ॥२८॥

निकसा राजा सिंगी पूरी ।
छाँड़ा नगर मेलि कै धूरी ॥

छार उठाइ लीन्हि एक मूठी।
दीन्हि उड़ाइ पिरथिमी झूठी॥
सगरिउ कटक उठाई माटी।
पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़-घाटी॥
जौ लहि ऊपर छार न परै।
तौ लहि यह तिस्ना नहिं मरै॥
भा धावा, भइ जूझ असूझा।
बादल आइ पँवरि पर जूझा॥

जौहर भईं सब इस्तिरी, पुरुष भए संग्राम।
बादशाह गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम॥२८॥

———

राय रान सब भए बियोगी।
सोरह सहस कुँवर भए जोगी॥
कहेन्हि आज किछु थोर पयाना।
कालिह पयान दूरि है जाना॥
ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई।
तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परबत कै बाटा।
बिषम पहार अगम सुठि बाटा॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा।
ठावहिं ठाँव बैठ बटपारा॥ लुटेरे
अस मन जानि सँभारहु आगू।
अगुआ केर होहु पछलागू॥
करहि पयान भोर उठि पंथ कोस दस जाहिं।
पंथी पंथा जे चलहिं ते का रहहिं ओ ठाहिं॥२६॥

होत पयान जाइ दिन केरा।
मिरिगारन महँ भएउ बसेरा॥
कुस-साँथरि भइ सौंर सुपेती।
करवट आइ बनी भुइँ सेंती॥
चलि दस कोस ओस तन भीजा।
काया मिलि तेहिं भसम मलीजा॥
ठाँव ठाँव सब सोअहिं चेला।
राजा जागै आपु अकेला॥
जेहि के हिये पेम-रँग जामा।
का तेहि भूख नींद बिसरामा॥
बन अँधियार, रैनि अँधियारी।
भादों बिरह भएउ अति भारी॥

कहाँ सो रतनसेन अब राजा ?।
कहाँ सुआ अस बुधि उपराजा ?॥
कहाँ अलाउदीन सुलतानू ?।
कहँ राघव जेइ कीन्ह बखानू ?॥
कहँ सुरूप पदमावति रानी ?।
कोइ न रहा, जग रही कहानी ॥
धनि सोई अस कीरति जासू।
फूल मरै, पै मरै न बासू ॥
केइ न जगत जस बेचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जौ यहि पढ़ै कहानी हम्ह सँवरै दुइ बोल ॥ २ ॥

समुद अपार सरग जनु लागा ।
सरग न घाल गनै बैरागा ॥

दस महँ एक जाइ कोइ-करम, धरम, तप, नेम ।
बोहित पार होइ जब तबहि कुसल औ खेम ॥३३॥

खार समुद सो नाँघा आए समुद जहँ खीर ।
मिले समुद वै सातौ बेहर बेहर नीर ॥३४॥

पुनि किलकिला समुद महँ आए ।
गा धीरज, देखत डर खाए ॥
भा किलकिल अस उठै हिलोरा ।
जनु अकास टूटै चहुँ ओरा ॥
उठै लहरि परबत कै नाईं ।
फिरि आवै जोजन सौ ताईं ॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा ।
सकल समुद जानहुं भा ठाढ़ा ॥
हीरामन राजा सौं बोला ।
एही समुद आए सत डोला ॥
सिंघलदीप जो नाहिं निबाहू ।
एही ठावँ साँकर सब काहू ॥
एहि किलकिला समुद गँभीरू ।
जेहि गुन होइ सो पावै तीरू ॥

मरन जियन एही पथहि एही आस निरास ।
परा सो गएउ पतारहि, तरा सो गा कैलास ॥३५॥

कान समुद धँसि लीन्हेसि भा पाछे सब कोइ ।
कोइ काहू न सँभारे आपनि आपनि होइ ॥३६॥

कोइ दिन मिला सबेरे, कोइ आवा पछ-राति ।
जा कर जस जस साजु हुत सो उतरा तेहि भाँति ॥३७॥

सतएँ समुद मानसर आए ।
मन जो कीन्ह साहस, सिधि पाए ॥
देखि मानसर रूप सोहावा ।
हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी ।
भा भिनसार किरिन-रवि फूटी ॥
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले ।
अंध जो अहे नैन विधि खोले ॥
कवँल विगस तस विहँसी देहीं ।
भौंर दसन होइ कै रस लेहीं ॥
हँसहिं हंस औ करहिं किरीरा ।
चुनहिं रतन मुकुताहल हीरा ॥
जो अस आव साधि तप जोगू ।
पूजै आस, मान रस भोगू ॥
भौंर जो मनसा मानसर लीन्ह कँवलरस आइ ।
घुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ ॥३८॥

---

(८) सिंहलद्वीप-खण्ड

पूछा राजै कहु गुरु सूआ ।
न जनौं आजु कहाँ दहुँ ऊआ ॥
पौन वास सीतल लेइ आवा ।
कया दहत चंदनु जनु लावा ॥
कबहुँ न ऐस जुड़ान सरीरू ।
परा अगिन महँ मलय-समीरू ॥

गुसाईं—मालिक, ईश्वर। चह—चाहे तो। सँवारै—बना दे। जो इ०—जो अनेक गुण प्रकट करे।

(६) पूनो—पूर्णिमा। करा—कला, प्रकाश। प्रथम इ०—ईश्वर ने पहले उसकी ज्योति को बनाया। सिहिटि इ०—सृष्टि की रचना की। प्रथम इ०—कुरान में लिखा है कि ईश्वर ने पहले मुहम्मद साहब को उत्पन्न किया और फिर उनको खातिर सृष्टि को बनाया। लेसि—जलाकर। निरमल—प्रकाशित। दुसरे इ०—ईश्वर ने उनको दूसरे स्थान (नम्बर) पर लिखा, इसलाम में मुहम्मद साहब का स्थान परमात्मा के बाद दूसरे नंबर पर है। धरमी—धर्मात्मा। पाढ़त—पाठ, धार्मिक पाठ, यहाँ कलमा से अभिप्राय है। बसीठ—दूत। दई, दैव—परमात्मा। दुइ जग—लोक-परलोक। लेख औ जोख—पाप-पुण्य का हिसाब। मोख—मोक्ष।

(७) ओही—उसे। छाज—शोभा देता है। छात—राज्य-छत्र। पाटा—सिंहासन। राजै—राजाओं ने। भुइँ इ०—उसके आगे पृथ्वी पर माथा रखा। सूर—शेरसाह सूर वंश का था। खांडे इ०—तलवार में शूरवीर। पूरी—पूर कर, भरकर, छा कर। रेनु—सेना के चलने से जो धूल उड़ती है वह। रैन होइ—रात के समान (होइ का प्रयोग जायसी ने प्रायः समान के अर्थ में किया है)। फिरि—(काम आदि से) लौटकर। बासा लेहिं इ०—यह समझ कर कि रात हो गयी है। चाँपा—दुबक गया। खेह इ०—धूल में मिल जाते हैं। नयेउ—झुके, पराजित हुए.

(८) अदल—न्याय। पुहमी—पृथ्वी पर। दुखवै—सताता है। नौसेरवाँ—नौशेरवाँ, ईरान का प्रसिद्ध बादशाह जो न्याय के लिए प्रसिद्ध है। आदिल—नामी। अहा—था। सरि—बराबर। नाथ—नाक का एक गहना। पारना—सकना। सोन

निकसत आव किरिन-रविरेखा ।
तिमिर गए निरमल जग देखा ॥
तूँ राजा जस बिकरम आदी ।
तू हरिचंद बैन सतबादी ॥
गोपिचंद तुइ जीता जोगू ।
औ भरथरी न पूज बियोगू ॥
जीत पेम तुइँ भूमि अकासू ।
दीठि परा सिंघल-कैलासू ॥
गगन सरोवर, ससि-कँवल कुमुद-तराइन्ह पास ।
तू रवि ऊआ, भौंर होइ पौन मिला लेइ बास ॥३९॥
सो गढ़ देखु गगन तें ऊँचा ।
नैनन्ह देखा, कर न पहूँचा ॥
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी ।
औ जमकात फिरै जम केरी ॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा ।
मारा चक्र भएउ दुइ आधा ॥
चाँद सुरुज औ नखत तराईं ।
तेहि डर अँतरिख फिरहि सबाईं ॥
पौन जाइ तहँ पहुँचै चहा ।
मारा तैस लोटि भुइँ रहा ॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना ।
धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना ॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ ।
बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ ॥
रावन चहा सौंह होइ उतरि गए दस माथ ।
संकर धरा लिलाट भुइँ, और को जोगीनाथ ? ॥४०॥

चन्दन की भाँति सुगन्धित हैं। भइ इ०—पेड़ इतने गहरे हैं कि सारे जगत में उनकी छाया हो रही है, वह छाया ऐसी गहरी है कि रात सी हो जाती है। फिर—लौटकर। यहि—इस जगत की।

नोट—यहाँ ईश्वर-लोक की ओर संकेत किया है।

सघन—गहरा। घन—घना, अधिक।

(२) भाखा—बोलियाँ। हुलास—उल्लास, आनंद। चुह-चूही, पंडुक—पक्षीविशेष। 'एकै—तूही'—पंडुक की बोली जो इन शब्दों से मिलती-जुलती होती है मानो वह कहता है कि हे ईश्वर एक तू ही है। सारौं—सारिका, मैना। रहचह—कोलाहल। कुरुहि—बोलते हैं। करबरहीं—करबल करते हैं। गडुरी—एक पक्षी। जीहा—जिह्वा से। महरि—ग्वालिन नामक चिड़िया। हारिल इ०—हारीत पक्षी मानो विनयपूर्वक अपनी हार (निवेदन करता) है कि हे ईश्वर मैं हार गया। कुराहर—कोलाहल। दई—ईश्वर।

(३) पैग-पैग पर—पग-पग पर। पांवरी—सीढ़ियां। जपा-तपा—जप-तप करने वाले। मानसरोदक—सिंहल का सरोवर। काहा—क्या। अमृत इ०—मानो अमृत में कपूर की सुगन्धि ला दी गयी है। लंक दीप—जायसी ने लंका और सिंहल को अलग-अलग माना है। अनायी—लाकर। छाता—कमल का छत्र। उलथहि—उछलते हैं। उतराहीं—पानी के ऊपर आते हैं। बिरिछ—वृक्षों में चन्दन की सुगन्धि विद्ध हो गयी है (भर गयी है)। मनि भाग इ०—सौभाग्य की मणि है (जो बड़े सौभाग्य वाले हैं)। जायसी ने जगह-जगह बड़े आदमियों के माथे में सौभाग्य-सूचक मणि होने का उल्लेख किया है। आछहि—हैं, रहते हैं।

तहाँ देखु पदमावति रामा ।
भौंर न जाइ, न पंखी नामा ॥
कंचन-मेरु देखाव सो अहाँ ।
महादेव कर मंडप तहाँ ॥
माघ मास, पाछिल पछ लागे ।
सिरी-पंचमी होइहि आगे ॥
उघरिहि महादेव कर बारू ।
पूजिहि जाइ सकल संसारू ॥
पदमावति पुनि पूजै आवा ।
होइहि एहि मिस दीठि-मेरावा ॥
तुम्ह गौनहु ओहि मंडप, हौं पदमावति पास ।
पूजै आइ बसंत जब तब पूजै मन-आस ॥४१॥

——:०:——

घरी इ०—जव एक घड़ी पूरी हो जाती है वह डंका मार कर घड़ी वजा देता है, इस प्रकार घड़ी-घड़ी पर घड़ियाल वोलती है। परा इ०—जो डंका पड़ता है वह मानो सारे जगत (के मनुष्यों) को डांटता है कि हे मट्टी के वने वर्तन, तुम क्या निश्चिंत हुए वैठे हो। ? चाक—कुम्हार का चाक, काल-चक्र। काचे—कच्चे (वरतन और मनुष्य)। आयेहु इ०—यहाँ रहने को नहीं आये हो, न स्थायी होकर कभी वच सकते हो। भरी—पूरी हुई, वीत गयी। आउ—आयु। वटोही—पथिक (संसार का यात्री मनुष्य)। गजर इ०—(सावधान करने वाला) घंटा वजता है। वजर—वज्र के समान कठोर। जाग—जागता है, सावधान होता है।

मुहम्मद—जायसी का नाम। जीवन जल इ०—अरहट के घड़ों में पानी के समान जीवन-जल भरता है। घड़ा पानी से भर जाता है और ढल (कर खाली हो) जाता है उसी प्रकार जीवन भरता है और वह जाता है, इसी प्रकार मनुष्य का जन्म वीत जाता है।

(७) वारा—इधर, इस किनारे । राज-दुआरा—ईश्वरीय लोक की ओर संकेत । वारा—द्वार पर। रज-वार—राजद्वार (पर)। मन तें इ०—मन से भी आगे (तेज) चलने वाले। डोलहिं वागा—लगाम को हिलाते हैं। लेत इ०—साँस लेते ही आकाश तक जा लगते हैं । परि इ०—दिखायी पड़ी। दर—द्वार पर। निसान—नगारे । सूर—आप ऐसे तपता है जैसे सूर्य, सूर्य के समान प्रतापी है। माथे इ०—माथे पर तेज है।

(८) अछरीन्ह—अप्सराओं मे। कैलासू—स्वर्ग। पदमिनी-पद्मिनी जाति की। एक एक तें—एक एक से वढ़कर। अधारि—आधार पर (अत्यन्त सुकुमार)। अवधान—गर्भ के। सिवलोक

(१) पदमावती-वियोग-खण्ड

पदमावति तेहि जोग सँजोगा ।
परी पेम-बस गहे वियोगा ॥
नींद न परै रैनि जौं आवा ।
सेज केंवाच जानु कोइ लावा ॥
दहै चंद औ चंदन चीरू ।
दगध करै तन बिरह गँभीरू ॥
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी ।
तिलतिल भर जुग जुग जिमि गाढ़ी ॥
गहै बीन मकु रैनि बिहाई ।
ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई ॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै ।
ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै ॥
कहँ वह भौंर कँवल रस-लेवा ।
आइ परै होइ घिरिन परेवा ॥
से धनि बिरह-पतंग भइ, जरा चहै तेहि दीप ॥
कंत न आव भिरिंग होइ, का चंदन तन लीप ? ॥१॥
परी बिरह बन जानहुँ घेरी ।
अगम असूझ जहाँ लगि हेरी ॥
चतुर दिसा चितवै जनु भूली ।
सो बन कहँ जहँ मालति फूली ? ॥
कँवल भौंर ओही बन पावै ।
को मिलाइ तन-तपनि बुझावै ? ॥

मोहि—मेरे लिए । आँखि लगावहिं—देखते तक नहीं । जस गंगा—गंगा की तरह उमड़ा हुआ । देह-देह—अङ्ग-अङ्ग में । हम—हमारे । धरहु निवारि—रोक रखो, वश में रखो । दुर्जन—दुष्ट, निंदक । राजहि—राजा से ।

(१३) दीठि इ०—दृष्टि और ही हो गयी, कृपा की दृष्टि नहीं रही । बुधि इ०—कुछ बुद्धि देगा ।

सूर इ०—जहाँ चन्द्र (पद्मावती) उदित है वहाँ सूर्य (पति, वर) की बात सुनाता है ।

बारी—एक जाति । छपावा—छिपा दिया । ब्याध—मारने वाला । आवै पावा—आ सका । सुजानू—समझदार । भुगुति—खाना । उड़ानू—उड़ना । ठोर—चोंच । दारिउँ—दाड़िम । अवहिं—अभी, तभी, देखते ही, तुरन्त । ठोर—चोंच में ।

(१४) वै—वे मारने वाले । फिरे—लौट गये । विनवा—विनय करने लगा । डर खावा—डर गया । रानी—पदमावती । कला—प्रकाश । पानी—कांति । ठाकुर—मालिक । अन्त—अंत में । माया—प्रेम, दया । परेवा—पक्षी । तोहि—तेरी । आखौं—चाहती हूँ । पींजर—हृदय के पिंजड़े में । खुरुक—खटका । करिया—कर्णधार, जब कर्णधार ही शत्रु है तो नाव को कभी डुबा सकता है, चाहे जब मार सकता है ।

(१५-१६) नहाईं—नहाने के लिए । कुलेली—क्रीड़ा, कल्लोल, किलोलें, करती हुईं । सासुर—ससुराल । गवनब—जायँगी । काली—कल, थोड़े ही दिनों में । अपने हाथा—अपने वश में । दहुँ—न-जाने । आपु-आपु कहँ—हरेक को अपनी-अपनी पड़ेगी । परब इ०—जैसे पक्षी व्याध की डलिया में जा पड़ते हैं वैसे ही ससुराल की कैद में जा पड़ेंगी ।

अंग अंग अस कँवल-सरीरा।
हिय भा पियर कहै पर पीरा॥
विरह समुद्र भरा असँभारा।
भौंर मेलि जिउ लहरिन्ह मारा॥
विरह नाग होइ सिर चढ़ि डसा।
होइ अगिनि चंदन महँ बसा॥
कनक-पानि कित जोवन कीन्हा।
औटन कठिन विरह ओहि दीन्हा॥

जोवन-चाँद उआ जस, विरह भएहु सँग राहु।
घटत हि घटत छीन भइ, कहै न पारौं काहु॥२॥

नैन ज्यों चाक फिरै चहुँ ओरा।
बरजै धाय, सभाहिं न कोरा॥
कहेसि, पेम जौ उपना, बारी।
बाँधु सत्त मन डोल न भारी॥
जेहि जिउ महँ होइ सत्त पहारू।
परै पहार, न बांके बारू॥
सती जो जरै पेम-सत लागी।
जौं सत हिये तो सीतल आगी॥
जोवन-चाँद जो चौदह करा।
विरह के चिनगी सो पुनि जरा॥
पौन बाँध सो जोगी-जती।
काम बाँध सो कामिनि सती॥
आव बसंत फूल फुलवारी।
देव-बार सब जैहैं बारी॥

तुम्ह पुनि जाउ बसंत लेइ, पूजि मनावहु देव।
जीउ पाइ जग जनम कै, पीउ पाइ कै सेव॥ ३॥

गया) । चन्द—पद्मावती । विगसा इ०—पद्मावती का हास देख कर सरोवर के कुमुद खिल उठे। जहाँ इ०—जहाँ भी जिसको भी पद्मावती ने देखा, जहाँ जिस वस्तु पर पद्मावती की दृष्टि पड़ी, वहीं वह वस्तु चमक उठी। ओप—कान्ति। पावा—जिस रूप से पद्मावती ने देखा सरोवर ने वही रूप पा लिया । चहा—देखा। ससि इ०—पद्मावती के मुख के सामने सरोवर दर्पण बन गया—पद्मावती का सौन्दर्य सरोवर में प्रतिबिंबित हो उठा। नयन इ०—जहाँ नेत्रों का प्रतिबिंब पड़ा वहाँ कमल बन गये (कमल मानो उसके नेत्रों के प्रतिबिंब मात्र थे) । निरमल इ०—जहाँ निर्मल शरीर की छाया पड़ी वहाँ स्वच्छ जल बन गया; जहाँ उसने हँस कर देखा वहीं हंस बन गये; जहाँ दोनों की ज्योति पड़ी वहाँ हीरे आदि रत्न बन गये।

नोट—आध्यात्मिक अर्थ भी ध्यान में रखिये। पद्मावती =परमात्मा जिसका प्रतिबिंब यह सारा संसार है; संसार में जो कुछ सौन्दर्य है यह परमात्मा का सौंदर्य ही है जो जगतरूपी दर्पण से से प्रतिबिंबित होकर दिखायी पड़ रहा है। इस सम्बंध में रामचन्द्र शुक्ल की जायसी-ग्रन्थावली की प्रस्तावना के पृष्ठ ११६ और २१५ देखिये।

(२०)चलौं—यहाँ से चल दूँ । ताकि—तक कर, ओर। बन-ढाँखा—ढाकों का बन, गहरा जंगल। जिउ लीन्हे—प्राणों को लिये हुए। फरि—फली हुई, फलों वाली। भुगुति इ०—जब तक विधाता रचा करता है तब तक भोजन से भेंट हो ही जाती है । गुसाईं—ईश्वर, मालिक। भुक-भोजन। चारा—भोजन। बिछोह—ईश्वरीय वियोग।

(२१) परी—हमला किया। उतर इ०—पूछने पर उत्तर दिया करता था। छूँछा—खाली। रानी—पद्मावती। गहने—

(२) पद्मावती-सुआ-भेंट-खण्ड

तेहि बियोग हीरामन आवा।
पदमावति जानहुँ जिउ पावा॥
कंठ लाइ सूआ सौं रोई।
अधिक मोह जौं मिलै बिछोई॥
आगि उठे दुख हिये गँभीरू।
नैनहिं आइ चुवा होइ नीरू॥
रही रोइ जब पदमिनि रानी।
हँसि पूछहिं सब सखी सयानी॥
मिले रहस भा चाहिय दूना।
कित रोइय जौं मिलै बिछूना ?॥
तेहि के उतर पदमावति कहा।
बिछुरन-दुख जो हिये भरि रहा॥
मिलत हिये आएउ सुख भरा।
वह दुख नैन-नीर होइ ढरा॥

बिछुरंता जब भेंटै सो जानै जेहि नेह।
सुक्ख सुहेला उग्गवै दुःख झरै जिमि मेह॥४॥

पुनि रानी हँसि कूसल पूछा।
कित गवनेहु पींजर कै छूँछा॥
रानी तुम्ह जुग जुग सुख पाटू।
छाज न पंखिहि पींजर-ठाटू॥
जब भा पंख कहाँ थिर रहना।
चाहै उड़ा पंखि जौं डहना॥
पींजर महँ जो परेवा घेरा।
आइ मजारि कीन्ह तहँ फेरा॥

चलें। तरिवर इ०—डाल के नीचे छिपा व्याध। ताका-देखा। थाका—उड़ नहीं सका (किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया)। साखा—व्याध जिसके नीचे छिपा था वह डाली। वैठ—बैठा रहा। वह—वह व्याध। खोंचा—चिड़िया फँसाने का बाँस। लासा—चिपचिपा पदार्थ जो व्याध चिड़िया फँसाने के लिए बनाते हैं। भरे—लासा में भर गये। बाच—बचे।

(२४) मेलेसि इ०—पकड़ कर डलिया में डाल दिया। तहँवा—वहाँ। खरबरहीं—खलबली मची। विष-दाना—जहरीला दाना। अंगूरा—अंकुर, अंकुरित। जेहि—जिससे। डहन इ०—पकड़ कर पांखें चूर कर डालीं। आसा—तृष्णा। चिरिहार—व्याधि। ढुकत—पहुँचता। काल—मृत्यु। लगी—लग्गी बाँस। ज्यों इ०—पत्ती की तरह शरीर में फूल जाता है। पै—अवश्य। बाझा—फन्दे में फँस गया।

नोट—यहाँ से दोहा २६ तक आध्यात्मिक अर्थ को भी ध्यान में रखिये। सांसारिक विषय-भोग ही जहरीले दाने हैं जिनके कारण जीव काल-रूप व्याध के फन्दे में फँस जाता है।

(२५) केरा—केला। कुरबारि—चोंच से खोद-खोद कर। फरहरी—फल। ओहु—वह भी। तुलाना—आ पहुँचा। सो बिसरा—उसे अर्थात् परमात्मा को भुला दिया। पावा इ०—जिसके द्वारा सब कुछ (धन संपत्ति आदि) पाया था। गाढ़ा—गढ़ा। आड़ा—टट्टी। खुरुक—खटका, भय। सुख सोइ—सुख में सोते हुए। गिउ—गर्दन में।

(२६) धरै—पकड़ लेती है। उठे—निकले। तिसना—तृष्णा रूप व्याधि। सँग—भोगों के साथ। भुगुति—भोग। लियाधू—काल की ओर संकेत। दीजै—देना पड़े। मस्ट—चुप्पी, चुप रहना।

———

दिन एक आइ हाथ पै मेला ।
तेहि डर वनोबास कहँ खेला ॥
तहाँ वियाध आइ नर साधा ।
छूटि न पाव मीचु कर बाँधा ॥
वै धरि बेचा बाम्हन हाथा ।
जंबूदीप गएउँ तेहि साथा ॥

तहाँ चित्र चितउरगढ़ चित्रसेन कर राज ।
टीका दीन्ह पुत्र कहँ, आपु लीन्ह सिव साज ॥५॥

बैठ जो राज पिता के ठाऊँ ।
राजा रतनसेन ओहि नाऊँ ॥
लछन बतीसौ कुल निरमला ।
बरनि न जाइ रूप औ कला ॥
वै हौं लीन्ह, अहा अस भागू ।
चाहै सोने मिला सोहागू ॥
सो नग देखि हौंछा भइ मोरी ।
है यह रतन पदारथ जोरी ॥
है ससि जोग इहै पै भानू ।
तहाँ तुम्हार मैं कीन्ह बखानू ॥
सुनत बिरह-चिनगी ओहि परी ।
रतन पाव जौं कंचन-करी ॥
कठिन पेम बिरहा दुख भारी ।
राज छाँड़ि भा जोगि भिखारी ॥

तुम्ह बारी रस जोग जेहि, कँवलहि जस अरघानि ।
तस सूरुज परगास कै भौंर मिलाएउँ आनि ॥६॥

हीरामन जो कही यह बाता ।
सुनिकै रतन पदारथ राता ॥

(५) रजाइ—आज्ञा (राजादेश) । औधारा — करने लगा । जीउ—जीव के समान । निनारा—अलग । विसवासी—विश्वासघाती । नाव—नवा दिया, झुका दिया । वड़ साजू—बड़े साज के साथ । चाहा—चाहिए । मेरवौं—मिलाऊँ ।

(६) वानि—रंग कस कर बताओ कि यह सोना कैसा है, परीक्षा कर कहो कि मैं कैसी हूँ । लोना—सुन्दर । तोरी रुपमनी—तेरे सिंहल की रूपवती स्त्रियाँ । लोनि—सुन्दर ।

(७) दई—ईश्वर । आगरि—आगे, बढ़कर । कै इ०—मन में गर्व करके किसी ने शोभा नहीं पायी । विलोनि—असुन्दर, कुरूप । पूजें—पहुँच सकती है, बराबरी कर सकती है । जहाँ इ०—माथे के आगे पैरों का क्या वर्णन करूँ ; वे शीर्षस्थानीय हैं तो उनके सामने तुम पैरों के समान हो । गढ़ी इ०—वे सुगन्धित सोने से बनी हैं । भरी इ०—रूप और भाग्य से भरी हैं । रूखि-क्रुद्ध ।

(८) होइ इ०—कहीं यह अंकुरित हो उठे । सबद इ०—यह मुर्गा बन कर प्रातःकाल की सूचना न दे दे, रतनसेन को पदमावती की कथा न सुना दे । दामिनी—धाय का नाम । मंद-बुरी । जाकर पाला—जिसका पाला हुआ था, जिसने पाला था । साखी—देखने वाला । जेहि इ०—जिस दिन से मैं डरती हूँ कि कहीं आ न पहुँचे । रैनि—अपने सूर्य (पति) को रात्रि के अन्धकार में छिपाये हूँ । लै इ०—उस मेरे सूर्य को यह कमल (पदमावती को) ले जाकर दे देना चाहता है । मो इ०—मुझ नागमती के लिए मोर बनकर, मेरा शत्रु बन कर (मोर नाग का शत्रु प्रसिद्ध है) ।

(९) गनि—विचार । विसरामी—विश्रामदायक या विश्रंभपात्र । तुरय रोग इ०—मिलाओ तवेले की बला बन्दर के सर

जस सूरुज देखे होइ ओपा ।
तस भा बिरह, कामदल कोपा ॥
सुनि कै जोगी केर बखानू ।
पदमावति मन भी अभिमानू ॥
कंचन करी न काँचहिं लोभा ।
जौं नग होइ पाव तव सोभा ॥
कंचन जौं कसिए कै ताता ।
तब जानिय दहुँ पीत कि राता ॥
नग कर मरम सो जड़िया जाना ।
जड़ै जो अस नग देखि बखाना ॥
को अब हाथ सिंघ मुख घालै ।
को यह बात पिता सौं चालै ॥

सरग इंद्र डरि काँपै बासुकि डरै पतार ।
कहाँ सो अस बर प्रिथिमी मोहिं जोग संसार ॥७॥

तू रानी ससि कंचन-करा ।
वह नग रतन सूर निरमरा ॥
बिरह-बजागि बीच का कोई ।
आगि जो छुवै जाइ जरि सोई ॥
आगि बुझाइ परे जल गाढ़ै ।
वह न बुझाइ आपु ही बाढ़ै ॥
बिरह के आगि सूर जरि काँपा ।
रातिहि दिवस जरै ओहि तापा ॥
सुनि कै धनि, 'जारी अस कया' ।
तव भा मयन, हिये भै मया ॥
देखौं जाइ जरै कस भानू ।
कंचन जरे अधिक होइ बानू ॥

(११) रिस इ०—क्रोध अपना नाश करता है, बुद्धि दूसरों का। गयेउ—नष्ट हुआ। घाला—नष्ट किया हुआ। विरस—द्वेप। मारै—वश में करे। पाहाँ—पास। वररुचि इ०—वररुचि जैसे पंडित और भोज जैसे राजा।

नोट—आध्यात्मिक अर्थ पर भी ध्यान दीजिये।

(१२) जस इ०—सेमल की रुई के समान, निस्सार। राता—प्रकाशित। संघाता—समूह। सिहिटि—सृष्टि। वारी—वाला, कन्या। पद्म इ०—विधाता ने मानों कमल की गन्ध से युक्त चन्द्रमा बनाया है। अंग इ०—चन्दन के समान सुगन्धित अंग। कनक—वह बारहवानी (पूर्णतया खरे) और सुगंधित सोने के तुल्य है। पदमिनि—दूसरी पद्मिनी स्त्रियाँ। तिन्ह कै—शुद्ध पाठ तेहि के=उस पदमावती की। सुगन्ध इ०—सुगन्धि और रूप में उसकी छाया मात्र हैं। परेवा—पक्षी। कंठा फूट इ०—उसकी सेवा करते-करते कंठ फूटा है, उसकी सेवा में सज्ञान बना हूँ।

नोट—आध्यात्मिक अर्थ भी देखिये। पदमावती=ईश्वर।

(१३) कँवल=पदमावती। भुलाना—मुग्ध हो गया। उतंगू—ऊँचा, अगम्य। दीप—(१) द्वीप। (२) दीपक। सुनि इ०—समुद्र का हाल सुनकर नेत्र किलकिला पक्षी हो गये हैं। किलकिला—एक जलपक्षी जो मछली के लिए जल पर मँड़राता है। भा इ०—विवाह हो गया या अभी कुमारी है। तासू—उसको। न बहुरा—लौटा (आध्यात्मिक अर्थ)। ओनाही—उमड़ते हैं, आते हैं। धूप—प्रकाश।

(१४) रवि नाँव—सूर्य का नाम, सूर्य यह शब्द (पदमावती का नाम)। राता—अनुरक्त। सुरंग—सुन्दर। कही—वर्णन की। चित्र इ०—चित्र की भाँति वहीं जम गयी है। होइ सुरुज—

जौं वह जोग सँभारै छाला ।
पाइहि भुगुति, देहुँ जयमाला ॥
कवँल-भँवर तुम्ह बरना मैं माना पुनि सोइ ।
चाँद सूर कहँ चाहिय जौं रे सूर वह होइ ॥८॥

हीरामन जो सुना रस-बाता ।
पावा पान भएउ मुख राता ॥
चला सुआ, रानी तब कहा ।
भा जो परावा कैसे रहा ? ॥
जो निति चलै सँवारै पाँखा ।
आजु जो रहा, काल्हि को राखा ? ॥
न जनौं आजु कहाँ दहुँ ऊआ ।
आएहु मिलै, चलेहु मिलि, सूआ ॥
मिलि कै बिछुर मरन कै आना ।
कित आएहु जौं चलेहु निदाना ? ॥
सुनु रानी हौं रहतेउँ राधा ।
कैसे रहौं बचन कर बाँधा ॥
ता करि दिस्टि ऐसि तुम्ह सेवा ।
जैसे कुंज मन रहै परेवा ॥
बसै मीन जल धरती अंबा बसै अकास ।
जौं पिरीत पै दुवौ महँ अंत होहिं एक पास ॥९॥

आवा सुआ बैठ जहँ जोगी ।
मारग नैन, वियोग बियोगी ॥
आइ पेम-रस कहा सँदेसा ।
गोरख मिला, मिला उपदेसा ॥
तुम्ह कहँ गुरू मया बहु कीन्हा ।
कीन्ह अदेस, आदि कहि दीन्हा ॥

लिये हुए सफेद है। करवत—(१) आरा (२) त्रिवेणी (प्रयाग) तीर्थ में प्रसिद्ध आरा जिस पर गिर कर भक्त लोग प्राण दिया करते थे। वेनी-(१) केशपाश (२) त्रिवेणी तीर्थ। कनक इ०—वह माँग खरे सोने के समान (कान्तिमय) है; उसे सोहाग की आवश्यकता है। सोहाग—(१) सुहागा (सोने के पक्ष में), (२) सौभाग्य, पति का होना। नखत—नक्षत्रों के समान मोती। उवै—उदित है। गाँग—आकाश-गंगा।

(१७) द्वितीया का चन्द्र। ओती—उतनी। सरवरि—उपमा। मयंकू—मृगांक। गरासा—ग्रास करता है। पाट—सिंहासन। ध्रुव—ध्रुव का तारा। धनुक—धनुष। हेर—देखती है। सहुँ—सामने। मार—मारती है। हनै—मार दिया जाता है। धुनै—धुन दिया जाता है। केइ—किसने। हतियार—हत्यारा। धानुक—धनुष रखने वाला, शिकारी। वेभ-निशाना। सरि—समानता (करके)। गोपीता—गोपियाँ। गगन धनुक—इन्द्र-धनुष।

(१८) मानसरोदक इ०—मानस सरोवर की भाँति उछलते हैं। राते इ०—नेत्र लाल कमल हैं जिनमें पुतलियाँ रूपी भौंरे फिर रहे हैं। मातिे—मतवाले होकर। अपसवा इ०—भागना चाहते हैं (बड़े चञ्चल हैं)। तुरंग—घोड़ों की तरह। वागा—लगाम। उलथि—उछलकर। समुद्र इ०—समुद्र की लहरें मानों झूला झूल रही हैं। खंजन इ०—नेत्र इतने चञ्चल हैं मानों दो खञ्जन पक्षी लड़ रहे हैं। मिरिग इ०—नेत्र मानों सुधबुध भूले हुए हरिण हैं (नेत्रों की उपमा मृग के नेत्रों से दी जाती है)। साधे—चढ़ाये। अनी—फौजें। मारा—मारा गया। बेध रहा—बिद्ध हो रहा है। मगरों—मारा। हने—मारे हुए। मारगों—(१) पेड़ (२) मार्गों। ठाढ़—खड़े हुए। ओ पहँ—उन

सबद, एक उन्ह कहा अकेला ।
गुरु जस भिंगु, फनिग जस चेला ॥
भिंगी ओहि पाँखि पै लेई ।
एकहि बार छीनि जिउ देई ॥
ताकहँ गुरू करै असि माया ।
नव औतार देइ, नव काया ॥
होइ अमर जो मरि कै जीया ।
भौंर कवँल मिलि कै मधु पीया ॥

आवै ऋतू बसंत जब तब मधुकर, तब बासु ।
जोगी जोग जो इमि करै सिद्धि समापत तासु ॥१०॥

---

(३) बसंत-खण्ड

दैउ दैउ कै सो ऋतु गँवाई ।
सिरी-पंचमी पहुँची आई ॥
भएउ हुलास नवल ऋतु माहाँ ।
खिन न सोहाइ धूप औ छाहाँ ॥
पदमावति सब सखी हँकारी ।
जावत सिंघलदीप कै बारी ॥
आजु बसंत नवल ऋतुराजा ।
पंचमि होइ, जगत सब साजा ॥
नवल सिगार बनस्पति कीन्हा ।
सोस परासहि सेंदुर दीन्हा ॥
बिगसि फूल फूले बहु बासा ।
भौंर आइ लुबुधे चहुँ पासा ॥
पियर-पात-दुख झरे निपाते ।
सुख-पल्लव उपने होइ राते ॥

माला। अभरन—भूषण। को तप इ०—किस प्राणी ने ऐसा तप किया है कि जो कण्ठहार बन कर उस गले से लगेगा।

(२२) फेरि इ०—खराद पर चढ़ाकर बनायी। कदलि गाभ—केले का भीतरी भाग, जो अत्यन्त कोमल व स्निग्ध होता है। जोरी—जोड़ी। हथोरी—हथेलियाँ। जंभीर = कुच। बारी—(१) कन्या (१) बाड़ी। परत इ०—मानों चन्दन के परत लगे हैं। कुँहकुँह—कुंकुम। साम—श्याम। कंवल—मुखकमल। नारंग = कुच। मयूर = ग्रीवा। ठमकि—ठिठक कर। लहरे-देति—लहराती हुई। ओहार—पर्दा, ओढ़ना। कारे इ०—कमल को मुख में पकड़े हुए साँप। कारे—काले साँप (= केशपाश)। कंवल = मुख। ससि = मुख-मंडल। राहु = केश। खञ्जन = नेत्र। दीठ—देखता है। पन्नग इ०—शकुन-शास्त्र का एक शकुन।

(२३) लंक—कमर। पुहुमि—पृथ्वी पर। काहू—किसी के। ओहि—वह भी। बसा—बर्रे। झीनी—पतली। परिहँस—ईर्ष्या। पियर भये—(हेतूत्प्रेक्षा)। लिये डंक इ०—(प्रत्यनीक)। नाल—कमल-नाल। लंक-तार—कमर रूपी तंतु। फेरि—उलट कर। पाट—सिंहासन। उजियारा—प्रकाशित। पायल—पैर का गहना। अभोग—अभुक्त, पवित्र।

(२४) पै—निश्चयवाचक अव्यय। लहरहिं लहर—प्रत्येक लहर पर। बिसँभार—बेसँभाल, बेसुध। भौंर होइ—भँवर बनकर, भँवर के समान। भांवरि—चक्कर। उसांस—ऊँचे साँस के साथ। चढ़ै—ऊपर आता है। बौराई—बावला बनकर। बेवस्था—व्यवस्था, ढंग। दसवँ अवस्था—मरण। हरहिं—धीरे-धीरे। सतावहि—सताता है, सताता है। एतने—इतना ही। नाहि—आहि।

(२५) अहा—था। मुवा—निष्प्राण। बूझहु—समझो।

अवधि आइ सो पूजी जो हींछा मन कीन्ह ।
चलहु देवमढ़ गोहने चहहुँ सो पूजा दीन्ह ॥११॥

कवँल सहाय चलीं फुलवारी ।
फर फूलन सब करहिं धमारी ॥
आपु आपु महँ करहिं जोहारू ।
यह बसंत सब कर तिवहारू ॥
चहै मनोहर झूमक होई ।
फर औ फूल लिएउ सब कोई ॥
फागु खेलि पुनि दाहब होरी ।
सैंतब खेह, उड़ाउब झोरी ॥
आजु साज पुनि दिवस न दूजा ।
खेलि वसंत लेहु कै पूजा ॥
भा आयसु पदमावति केरा ।
वहुरि न आइ करब हम फेरा ॥
तस हम कहँ होइहि रखवारी ।
पुनि हम कहाँ, कहाँ यह वारी ॥
पुनि रे चलब घर आपने पूजि बिसेसर-देव ।
जेहि काहुहि होइ खेलना आजु खेलि हँसि लेव ॥१२॥

काहू गही आँव कै डारा ।
काहू जाँवु बिरह अति झारा ॥
पुनि बीनहिं सब फूल सहेली ।
खोजहिं आस-पास सब वेली ॥
फर फूलन्ह सब डार ओढ़ाई ।
झुँड बाँधि कै पंचम गाई ॥
बाजहिं ढोल दुंदुभी भेरी ।
मादर, तूर, झाँझ चहुँ फेरी ॥

(२९) सिंगी पूरी—सींगी नाद किया। मेलि इ०—शरीर पर धूलि डालकर, योगी बनकर। मिलान—पड़ाव। सुठि—अत्यन्त। बटपारा—लुटेरे। आगू—आगा। ओ ठाँहि—उसी जगह (जो चलते हैं वे उसी जगह नहीं पड़े रहते, आगे बढ़ते ही हैं)।

(३०) कुस-साँथरि—कुशों की शय्या। सौंर—चद्दर। सुपेती—(सफेद) चद्दर। भुंइ सेंती—पृथ्वी पर। मलीजा—मैली हुई। ओही—वही (प्रियतम की)।

(३१) भेंटै—भेंटने को। गजपति—विजयनगर के राजा की उपाधि। भाव—भावना, समझ (या, शरीर)। तुम्ह तें—तुम से (जहाज मिल जायँ)। सीस पर—शिर पर, स्वीकार। खाँगा—कमी। गोसाइँ सन—मालिक से। बिनाती—विनय। अकूत—अपार। बूत—बूता।

(३२) सकती-सीऊ—शक्ति की सीमा, असीम शक्ति वाला। सांभर—संबल, पाथेय। मुहँ—तरफ। जेहि इ०—जिस पर प्रेम की व्यथा बीती है, जिसने प्रेम की व्यथा सही है। सत-बेरा—सत्य का बेड़ा। बरु—भले ही, चाहे। फिरै इ०—लौटाया हुआ नहीं लौटता। कांथरि—गुदड़ी। गगन—आकाश। घर—मठ। कोकिला—पक्षीविशेष। उठहिं—उठते हैं, ऊपर आते हैं, चढ़ते हैं। बुंद—आँसुओं के रूप में।

(३३) सत-रूप इ०—सत्य और ज्ञान दोनों में मन वाला है। अरस—[illegible]। पेले—धकेले, चलाये। एहि छारा—यह मिट्टी, पृथ्वी। उमगी—मन से भी बढ़कर तेजी से। मरग इ०—ईर्ष्या से मारग स्वर्ग की पखुरु भर भी परवाह नहीं करता। पाख—पखुआ, पुर्जा, मेंड़ के ऊपर की आने वाली थोड़ी सी मात्रा। करम इ०—कर्म इत्यादि के बल से।

और कहिय जो बाजन भले ।
भाँति भाँति सब बाजत चले ॥
नवल बसंत, नवल सब बारी ।
सेंदुर बुक्का होइ धमारी ॥
खिनहिं चलहिं, खिन चाँचरि होई ।
नाच कूद भूला सब कोई ॥
सेंदुर-खेह उड़ा अस, गगन भएउ सब रात ।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछन्ह पात ॥१३॥

एहि बिधि खेलति सिंघलरानी ।
महादेव-मढ़ जाइ तुलानी ॥
पदमावति गै देव–दुवारा ।
भीतर मँडप कीन्ह पैसारा ॥
एक जोहार कीन्ह औ दूजा ।
तिसरे आइ चढ़ाएसि पूजा ॥
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा ।
चंदन अगर देव नहवावा ॥
लेइ सेंदुर आगे भै खरी ।
परसि देव पुनि पायन्ह परी ॥
और सहेली सबै बियाहीं ।
मो कहँ देव ! कतहुँ बर नाहीं ॥
हौं निरगुन जेइ कीन्ह न सेवा ।
गुनि निरगुनि दाता तुम्ह, देवा ॥
बर सौं जोग मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि ।
जेहि दिन हीछाँ पूजै वेगि चढ़ावहुँ आनि ॥१४॥

ततखन एक सखी बिहँसानी ।
कौतुक आइ न देखहु रानी ॥

पहुंचने के लिए)। बहुरा रोइ—रो कर लौट आया (वर्षा के रूप में)। रावन इ०—रावण ने सामने होना चाहा। जोगीनाथ—बड़ा योगी।

नोट—सिंहलगढ़ में ईश्वरीय लोक का संकेत है (जायसी ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृष्ठ ७३ और २१८ देखिये)।

(४१) रामा—नारी। भौंर इ०—वहाँ भौंरा या पक्षी नाम का कोई भी प्राणी नहीं जा पाता। मेरु—पहाड़। मंडप-मंदिर। सिरी-पञ्चमी—श्रीपञ्चमी या वसन्त पञ्चमी। बारू—द्वार। पूजे—पूजने को। दीठि मेरावा—दृष्टि-मिलाप। गौनहु—जाओ। पूजे—(१) पहुंचे (२) पूर्ण हो।

---

[४]

(१) जोग-सँजोगा—रतनसेन के योग के प्रभाव से। कँवाच—कौंच की फली जिसके छूजाने शरीर में खुजली होती है। गाढ़ी—कठिन, व्यथापूर्ण। सकु इ०—शायद (इस मनोरञ्जन से) रात बीत जाय। ससिवाहन—चन्द्रमा के रथ में जुते मृग। ओनाई—झुककर (या, मुग्ध होकर)। ससिवाहन इ०—मृग वीणा के नाद को सुनते हुए भूलने लगते हैं, चन्द्रमा का रथ स्थिर हो जाता है, इस प्रकार रात बीतने के बदले और बढ़ जाती है। सिंघ इ०—सिंह का चित्र बनाने लगती है कि मृग भयभीत होकर भाग चलें और रात बीते। गिरिनि परेवा—गिरहबाज कबूतर, कबूतर जब अपनी प्रिया को देखता है तो आकाश से टूटकर गिरह लगाता हुआ जमीन पर गिरता है। नहिं—अर्थात् विरह के। भिरिंग—भृंग जो पतंगे को अपने समान बना लेता है। का चन्दन इ० शरीर में चन्दन का लेप करने से क्या लाभ (इस तरह व्यथा नहीं मिट सकती)।

पुरुब द्वार मड़ जोगी छाए ।
न जनौं कौन देस तें आए ॥
जनु उन्ह जोग तंत तन खेला ।
सिद्ध होइ निसरे सब चेला ॥
उन्ह महँ एक गुरू जो कहावा ।
जनु गुड़ देइ काहू बौरावा ॥
कुँवर बतीसौ लच्छन राता ।
दसएँ लछन कहै एक बाता ॥
जानौं आहि गोपिचँद जोगी ।
की सो आहि भरथरी त्रियोगी ॥
चै पिंगला गए कजरी-आरन ।
ए सिघल आए केहि कारन ? ॥
यह मूरति, यह मुद्रा हम न देख अवधूत ।
जानौं होहि न जोगी कोइ राजा कर पूत ॥१५॥

सुनि सो बात रानी रथ चढ़ी ।
कहँ अस जोगी देखौं मढ़ी ॥
लेइ सँग सखी कीन्ह तहँ फेरा ।
जोगिन्ह आइ अपछुरन्ह घेरा ॥
नयन कचोर पेम-मद-भरे ।
भइ सुदिस्टि जोगी सहुं ढरे ॥
जोगी दिस्टि दिस्टि सौं लीन्हा ।
नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा ॥
जेहि मद चढ़ा परा तेहि पाले ।
सुधि न रही ओहि एक पियाले ॥
परा माति गोरख कर चेला ।
जिउतन छाँड़ि सरग कहँ खेला ॥

सिखे—सीखा। घरी—प्राप्ति की घड़ी। भुगुति—भिक्षा की प्राप्ति। सूर—हे सूर्य (रतनसेन)। ससि-राता—चन्द्र (पदमावती) से अनुरक्त। ताका—ताक कर चले। कया—काया। भुँइ—पृथ्वी पर। वलि भोउँ—वलि और भीम के समान जीवात्मा। बाज—विना, सिवाय। वैठारे—(काया) को उठा कर विठावे, सचेत करे।

(१८) गयी हेराइ—अदृश्य हो गयी। उकठी—सूखी। वारी—वाड़ी। चाँद=पदमावती। अथवा—अस्त हो गया। लेइ—लेकर, साथ। दवा—दवाग्नि। सिरावा—शीतल करे। परजरे—जल उठे। आंक—अक्षर जो पदमावती लिख गयी। उपदेस इ०—ऐसा उपदेश कौन गुरु दे।

(१९) रोवै इ०—आँसू गिरते हैं मानो रत्नों की माला टूट गयी हो और रत्न गिर रहे हों। कूरा—ढेर। विसवासी-विश्वासघाती। लगि—लिए। टेकेउँ—पकड़ा। सुवा क सेंवर=निराशा देने वाला। सेवा—सेवा से। ओद—गीला। तरैंदा—तैरने वाला काठ। पै—अवश्य।

(२०) संगी कया—काया को भी, जो सदा संग रहती आयी है। हता—हुआ, था। हता निछोई—बिछुड़ा। दूसन—यह मेरा ही दोष है, इसे क्या दोष। छार—राख जिसे सिर डालूँ। होऊँ—खुद ही जल कर राख हो जाऊँ। फाग इ०—तभी फाग मना सकूँगा, तभी आनन्दित हो सकूँगा। कित—किस लिए। सर—चिता।

(२१) तेहि कै—रतनसेन की। उहौ—वह हनूमान वीर भी। पलंका—परली लंका (एक कल्पित स्थान)। लंगूर—पूँछ। राता—लाल हो गया। करमुँहा—काले मुँह का। वजर-अंग—वज्र

किंगरी गहे जो हुत बैरागी ।
मरतिहु बार उहै धुनि लागी ॥
जेहि धंधा (जाकर) मन लागै सपनेहु सूझ सों धंध ।
तेहि कारन (तपसी) तप साधहिं, करहिं पेम मन बंध ॥१६॥

पदमावति जस सुना बखानू ।
सहस-करा देखेसि तस भानू ॥
मेलेसि चंदन मकु खिन जागा ।
अधिकौ सूत, सीर तन लागा ॥
तब चंदन आखर हिय लिखे ।
भीख लेइ तुइँ जोग न सिखे ॥
घरी आइ तब गा तूँ सोई ।
कैसे भुगुति परापति होई ? ॥
अब जौं सूर अहौ ससि राता ।
आएहु चढ़ि सो गगन पुनि साता ॥
कीन्ह पयान सबन्ह रथ हाँका ।
परबत छाँड़ि सिंघलगढ़ ताका ॥
बलि भए सबै देवता बली ।
हत्यारिन हत्या लेइ चली ॥
परो कया भुइँ लोटै, कहाँ रे जिउ बलि भोउँ ।
को उठाइ बैठारै बाज पियारे जीउ ॥१७॥

---

(४) राजा-रत्नसेन सती-खण्ड

कै बसंत पदमावति गई ।
राजहि तब बसंत सुधि भई ॥

निकालने वाला। धँस—धँसता है। सरग—सिंहल। दुआरी—द्वार।

नोट—(१) साँग रूपक (गढ़=काया। नौ पौरी=शरीर के नव रन्ध्र। पाँच कोतवाल = पञ्च प्राण। दशम द्वार = ब्रह्मरन्ध्र जो बन्द रहता है, (योगी लोग बल से उसे खोलते हैं)। कुण्ड = नाभि। सुरङ्ग = सुषुम्ना नाड़ी। पन्थ = कुण्डलिनी जिसकी साधना से ब्रह्मरन्ध्र खुलता है)।

(२) अर्थ के विशेष स्पष्टीकरण के लिए जायसी-ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृष्ठ ८१—६३ देखिये।

---

[५]

(१) गुटिका—गोली। सिधि गुटिका—महादेवजी की दी हुई सिद्धि की गुटिकाएँ (या गुटिका नाम की सिद्ध)। हूल—हल्ला (या आक्रमण)। छेंका—घेरा। खेला—चलकर आये। बसीठ—दूत।

(२) उतरि—दुर्ग से नीचे आकर। जोहारे—प्रणाम किया। खेलहिं—चले जायँ। गढ़ इ०—दुर्ग से नीचे का भाग छोड़ कर अन्यत्र जाकर डेरा डालें। भुगुति—भिक्षा। आनु—लाओ। बार भा—द्वार पर आया हुआ। निरास—इच्छा-विहीन। दिढ़ इ०—अपने पर जमा रहता है। गोनै—जावे।

(३) घुन = निर्दोष व्यक्ति। कहुँ—कहीं। नाथा—वे योगी। कुँवर—राजा के सामन्त। माखे—क्रुद्ध हुए। रहो इ०—मन में समझ कर चुप रहो। पति—प्रतिष्ठा। काह—क्या। अछै देहु—रहने दो। 'चालहु—चलाओ, करो। तहँ इ०—वहाँ बैठे-बैठे पत्थर खाते रहें ऐसे किस के मुँह में दाँत हैं ? खाने को नहीं मिलेगा तो पत्थर थोड़े ही खायँगे, अपने आप चले जायँगे।'

जो जागा न बसंत न बारी ।
ना वह खेल, न खेलनहारी ॥
ना वह ओहि कर रूप सुहाई ।
गै हेराई, पुनि दिस्टि न आई ॥
फूल झरे सूखी फुलवारी ।
दीठि परी उकठी सब बारी ॥
केइ यह बसत बसंत उजारा ? ।
गा सो चाँद, अथवा लेइ तारा ॥
बिरह-दवा को जरत सिरावा ? ।
को पीतम सौं करै मेरावा ? ॥
जस बिछोह जल मीन दुहेला ।
जल हुँत काढ़ि अगिन महँ मेला ॥
चंदन-आँक दाग हिय परे ।
बुझहिं न ते आखर परजरे ॥

आइ बसंत जो छपि रहा होइ फूलन्ह के भेस ।
केहि बिधि पावौं भौंर होइ कौन गुरू--उपदेस ॥१८॥

रोवै रतन--माल जनु चूरा ।
जहँ होइ ठाढ़, होइ तहँ कूरा ॥
कहाँ सो मूरति परी जो डीठी ।
काढ़ि लिहेसि जिउ हिये पईठी ॥
अरे मलिछ बिसवासी देवा ।
कित मैं आइ कीन्ह तोरि सेवा ॥
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा ।
सुआ क सेंवर तू भा मोरा ॥
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा ।
सो ऐसे बूढ़ै मझ धारा ॥

(१०) तहुँ इ०—तुम भी यदि प्रेम निभा सको (तो निभाओ)। केत—केतकी। लेसि—लो, प्राप्त करो। रातु—रँगो। दीपक बाती इ०—जैसे दीपक की वत्ती जलती है। सीप-सेवाती—स्वाति के लिए सीप बन कर। पाहाँ—ओर। महूँ—मैं भी। ओर इ०—अन्त तक निभाओ। राहु—मछली (सं० राघव), राघवमच्छ प्रसिद्ध है।

(११) देखेसि जागि—इसके पहले ये अर्धालियाँ जोड़ो—

बूँदहि समुद जैस होइ मेरा।
गा हेराइ अस, मिलै न हेरा॥
रंगहिं पान मिला जस होई।
आपहिं खोइ, रहा होइ सोई॥

मेरा—मिलाप, मेल। पान—तांबूल। गुरु=पद्मावती।

(१२) पौन इ०—मलय—पवन के समान। सांसा मन—मन का संशय (दुःख)। सँभारा—याद किया। बज्र—वज्र के समान किंवाड़।

(१३) सबद—बात, सलाह। बेदी—वेदज्ञ। मालति—(१) मालती का फूल (२) पद्मावती। राँध—पास। पै—अवश्य। भँवही—फिरते हैं। ताका इ०—देखते हैं वही चले जाते हैं। पारा—धातु विशेष। छरहिं—छल से। बर—बल (से)। कृस्न—कृत्स्न, सब (या कृष्ण)। छर ही—छल ही सब काम सिद्ध करता है। राजा इ०—राजा चाहे क्रोध कर चढ़ें अर्थात् चढ़ाई से (बल-प्रयोग से) कार्य सिद्ध नहीं होगा।

पाठांतर—छरहि काज किरसुन करि साजा राजा धरहि रिसाइ।

(१४) छेंकि—घेरकर। बिसमौ—विस्मय, विषाद। जीवा—जी में। मेली—डाली। गुरु इ०—गुरु को मैंने नहीं

पाहन सेवा कहाँ पसीजा ? ।
जनम न ओद होइ जौ भीजा ॥
बाउर सोइ जो पाहन पूजा ।
सकत को भारलेइ सिर दूजा ? ॥

सिंघ तरेंदा जेईं गहा पार भए तेहि साथ ।
ते पै बूड़े बाउरे भेंड--पूँछि जिन्ह हाथ ॥१६॥

आनहिं दोस देहुं का काहू ।
संगी कया मया नहिं ताहु ॥
हता पियारा मीत बिछोई ।
साथ न लाग आपु गै सोई ॥
का मैं कीन्ह जो काया पोषी ।
दूषन मोहिं, आप निरदोषी ॥
फागु बसंत खेलि गई गोरी ।
मोहि तन लाइ बिरह कै होरी ॥
अब अस कहाँ छार सिर मेलौं ? ।
छार जो होहुं फाग तब खेलौं ॥
कित तप कीन्ह छाँड़ि कै राजू ।
गएउ अहार न भा सिध काजू ॥
पाएउँ नहि होइ जोगी जती ।
अब सर चढ़ौं जरौं जस सती ॥

आइ जो पीतम फिरि गा मिला न आइ बसंत ।
अब तन होरी घालि कै जारि करौं भसमंत ॥०२॥

हनुवँत वीर लंक जेहि जारी ।
परवत उहै अहा रखवारी ॥
बैठि तहाँ होइ लंका ताका ।
छठएँ मास देइ उठि हाँका ॥

होगा, क्योंकि उसका जीव तो तुम हो। रूप इ०—तुम्हारे शरीर में अपने जीव को डालकर (पर-काया-प्रवेश करके) उसने एक और नया शरीर पा लिया है। इस प्रकार आप इस नये शरीर में छिपा है। अब काल ढूँढ़ कर भी उसको नहीं पा सकता (अब रतनसेन किसी प्रकार नहीं मर सकता)। रूप—शरीर। पिंड-शरीर।

(२०) सूर इ०—रतनसेन के संकट से पद्मावती दुखी हो उठी। परेवा—पक्षी रूप प्राण। अनु रानी—इसके पहले यह अर्धाली जोड़िये—

कहेसि कि कौन करा है सोई।
पर-काया-परबेस जो होई॥

अनु—अनुमोदन—बोधक एक अव्यय, हाँ, ठीक। मोहि—उलटे मुझे। अपसई—चली गयी। आवै इ०—वहाँ आवे जहाँ वह छिपा है। अदेस इ०—नमस्कार करके रह जाता है।

(२१) तपा—तपस्वी, योगी। आने—लाये। सूरी—शूली। जुरे—इकट्ठे हो गये। सिंघलपूरी—सिंघलपुर के लोग। देइ कहँ—शूली देने के लिए। काहुहि लागि—किसी के लिए। सो—वह (प्रियतम की)। जस इ०—ज्योंही मारने से लिए बाजा वजा कर संकेत दिया गया। मंसूरू—मंसूर के समान राजा रतनसेन। ठाँव—स्थान, मौका।

(२२) गारि इ०—गाली देने से क्रोध नहीं होता। बसा—तुला हुआ है। गाढ़—संकट। टरा—हिल उठा। गहन—ग्रहण। गहा—पकड़ लिया। वह मूरति—रतनसेन। सती—सतवाली। असूझ—अपार।

(२३) संदेस—पद्मावती का (पिछले खंड के अंत में देखिये)। राजा-जिउ—राजा रतनसेन के प्राण। दसौंधी—

तेहि कै आगि उहौ पुनि जरा ।
लंका छाँड़ि पलंका परा ॥
जाइ तहाँ वै कहा सँदेसू ।
पारवती औ जहाँ महेसू ॥
जोगी आहि वियोगी कोई ।
तुम्हरे मँडप आगि तेइ बोई ॥
जरा लँगूर सुराता उहाँ ।
निकसि जो भागि भएउँ करमुहाँ ॥
तेहि बज्रागि जरै हौं लागा ।
बजरअंग जरतहि उठि भागा ॥

रावन लंका हौं दही, वह हौं दाहै आव ।
गए पहार सब औटि के, को राखै गहि पाव ? ॥२१॥

---

(५) पार्वती-महेश-खण्ड

ततखन पहुंचे आइ महेसू ।
बाहन बैल, कुस्टि कर भेसू ॥
सेसनाग जाके कँठमाला ।
तनु भभूति, हस्ती कर छाला ॥
पहुँची रुद्र-कवँल कै गटा ।
ससि माथे औ सुरसरि जटा ॥
चँवर, घंट औ डँवरू हाथा ।
गौरा पारवती धनि साथा ॥

—रस्में। गोसाइँ—मालिक। अहहीं इ०—सेवा में हैं। छार—राख, मलिनता। कै मानुस—सच्चा मनुष्य बना कर। नातरु—नहीं तो।

---

[६]

(१) चितउर पथ—चित्तौर का रास्ता, चित्तौर से बाहर ले जाने वाला मार्ग। कीन्ह न फेरा—नहीं लौटे। नागर—चतुर प्रियतम। तेइ—उस नारी ने। पिउ इ०—प्रियतम न जाते, प्राण भले ही चले जाते। नारायन—नारायण, विष्णु। बावन-करा—वामन रूप। छरा—छला। करन—राजा कर्ण। छंदू—छल। झिलमिल—कवच। इन्दू—इन्द्र ने (कथा महाभारत में देखो)। मानत भोग—भोगों को भोग रहा था, आनन्द मना रहा था। गोपिचन्द—गौड़ का एक सुप्रसिद्ध राजा। अपसवा—चल दिया। जलंधर—जलंधरनाथ जिसके उपदेश से गोपीचन्द जोगी हो गया। कृस्न—कृष्ण। अलोपी—अदृश्य। सारस इ०—सारस पक्षी की जोड़ी को किस व्याध ने मार कर छीन लिया ? (मेरी जोड़ी किसने छीन ली) ? पिञ्जर—अस्थि-पञ्जर।

(२) बाउर—बावला। पपिहा—जैसे पपीहा पी-पी रटता है वैसे ही वह पी-पी पुकारती है। काम—विरह से। रामा—स्त्री। दाधै—जलती है। पिउ नामा—प्रिय नाम वाले व्यक्ति को, प्रिय को। तस इ०—ऐसा लगा कि हिली भी नहीं। हार—हार भी। हरि-हरि—धीरे-धीरे। नारी—नाड़ी। डोलावहिं—सखियाँ पवन करती हैं और शरीर पर जल छिड़कती हैं। पहर इ०—कोई बात कहती है तो वह इतनी अस्पष्ट निकलती है कि समझने में पहर भर लग जाता है। पयान—प्रयाण। भाखा—बोली। आहि—आह, ऊँचा साँस। लागि—कारण। हँस—(१) हंस पक्षी (२) जीव।

अबतहि कहेन्हि न लावहु आगी।
तेहि कै सपथ जरहु जेहि लागी॥
जरै देहु, दुख जरौं अपारा।
निस्तर पाइ जाउँ एक बारा॥
तैं यह जिउ डाढ़े पर दाधा।
आधा निकसि रहा, घट आधा॥
जो अजधर सो बिलँब न लावा।
करत बिलंब बहुत दुख पावा॥
एतना बोल कहत मुख उठी बिरह कै आगि।
जौं महेस न बुझावत जाति सकल जग लागि॥२२॥

पारवती मन उपना चाऊ।
देखौं कुँवर केर सत भाऊ॥
ओहि एहि बीच, कि पेमहि पूजा।
तन मन एक, कि मारग दूजा॥
भइ सुरूप जानहुँ अपछरा।
बिहँसि कुँवर कर आँचर धरा॥
सुनहु कुँवर मो सौं एक बाता।
जस मोहिं रंग न औरहि राता॥
औ विधि रूप दीन्ह है तोका।
उठा सो सबद जाइ सिव-लोका॥
तब हौं तोपहँ इंद्र पठाई।
गइ पदमिनि, तैं अछरी पाई॥
अब तजु जरन, मरन, तप, जोगू।
मोसौं मानु जनम भरि भोगू॥
हौं अछरी कैलास कै जेहि सरि पूज न कोइ।
मोहि तजि सँवरि जो ओहि मरसि, कौन लाभ तोहि होइ?॥२३॥

है। जहाँ लगि इ०—जहाँ तक देखती हूँ। खेवक—खेनेवाला। थाकी—थक गयी, ठहर गयी। अगम—अगम्य। बिच—तुम्हारे मेरे बीच में। घन—सघन। बन-ढांख—बन के पेड़। किमि कै—कैसे।

(६) दूभर— जो कठिनता से बिताया जा सके। भरौं—बिताऊँ। अनतै—अन्यत्र। पाटी—(पलंग की)। पसारि—फैलाकर, फाड़कर (देखने के लिए कि तुम आ रहे हो या नहीं)। तरासा—डराता है। गरासा—ग्रास करता है। मघा—एक नक्षत्र। ओरी—छप्पर की ओलती, जहाँ से छप्पर का पानी नीचे गिरता है। धनि—(१) प्रियतमा (२) धान। भरे—पानी से भरे। आयेन्हि—आये। पुरवा—पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र। पूरी—भर गयी। भूरि—भूर-भूर। अपूर—भरपूर। अवगाह—अथाह। बूड़त—डूबती हुई को। टेक—सहारा।

(७) लटा—दुर्बल या शिथिल हो गया। उतरा चीतु—चित्त निराश हो गया है। मया—दया। चित्रा—एक नक्षत्र। मीन कर मित्र—जब सूर्य चित्रा में आता है तब वर्षा का जल स्वच्छ हो जाता है (अक्टूबर का पूर्वार्ध)। अगस्त्य—एक अत्यन्त चमकीला तारा जो आश्विन में दिखायी देने लगता है। हस्ति घन—हाथी रूपी बादल। तुरय—घोड़े। पलानि—जीन कसकर। रण इ०—वर्षा के बाद राजा लोग विजय-यात्रा को निकलते थे। सँवरि—याद कर। फिरे—लौटे। सालै—सताता है, पीड़ा करता है। घाय—घाव। बाजहु—भिड़ो। सदूर—सिंह।

(८) बिरहै—विरह ने। करा—कला। जनहुँ—मुझे ऐसा जान पड़ता है मानो। सेज—शय्या पर। अगिदाहू—अग्नि-दाह। खंड—देश, दिशा। परब—त्यौहार। देवारी—दिवाली। झूमक—दीवाली के गीत। मोरी—मोड़कर। झुराव—झूरती

भलेहिं रंग अछरी तोर राता।
मोहिं दुसरे सौं भाव न बाता॥
मोहि ओहि सँवरि मुए तस लाहा।
नैन जो देखसि पूछसि काहा?॥
अबहिं ताहि जिउ देइ न पावा।
तोहि असि अछरी ठाढ़ि मनावा॥
जौं जिउ देइहौं ओहि कै आसा।
न जनौं काह होइ कैलासा॥
गौरइ हँसि महेस सौं कहा।
निहचै एहि विरहानल दहा॥
निहचै यह ओहि कारन तपा।
परिमल पेम न आछै छपा॥
एहू कहँ तस मया करेहू।
पुरवहु आस, कि हत्या लेहू॥
तस रोवै जस जिउ जरै गिरै रकत औ माँसु।
रोवँ रोवँ सब रोवहिं सूत सूत भरि आँसु॥२४॥
रोवत बूड़ि उठा संसारू।
महादेव तब भएउ मयारू॥
अब तैं सिद्ध भएसि सिधि पाई।
दरपन-कया छूटि गइ काई॥
गढ़ तस बाँभ जैसि तोरि काया।
पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे।
जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा।
औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥

चांचरि—चर्चरी, होली का नाच । निहोरे—काम । मकु—शायद ।

(१३) धमारी—वसंत का नाच-गान । पंचमइ०—विरह, कोयल के पंचम शब्द द्वारा, मानो पाँच बाण से मारता है। ढारै—आँसू गिराती है। बूड़ि उठे—उन लोहू के आँसुओं में डूबकर निकल आये। बौरे—बौरे हुए। फरै—फलने । भाव—प्रकार। चाँटे—तमाचे। नारंग— नारंगी। फरि इ०—फलकर यौवन नारंगी की शाखा के समान हो रहा है । सुआ बिरह इ०—बिरह-रूपी सुग्गा उस यौवन को खाना चाहता है, अब रोककर नहीं रखा जा सकता । घिरिन—गिरहबाज (ऊपर मँडरानेवाला) परेवा—कबूतर। पराये हाथ—विरह के वश में। पाव न छूट—छुटकारा नहीं पावेगी।

(१४) चोआ—एक सुगंधित पदार्थ । सूरज—सूर्य भी जलने लगा और उसने ठंडे हिमालय की ओर रुख किया है; सूर्य उत्तर की ओर बढ़ता आ रहा है, मानों गर्मी से डरकर हिमालय की शरण लेने के लिए। बिरह इ०—विरह की वज्र के समान अग्नि ने मेरी ओर अपना रथ हाँक दिया है । अंगारन माहा—मैं अंगारों में पड़ी हूँ । आइ इ०—आओ और मुझे जलती हुई आग से शीतल फुलवारी बनाओ। लागिउँ जरै—जलने लगी हूँ। भारू—भाड़ । तजिउँ—छोड़ पाती हूँ। बारू—भाड़ की बालू। घटत—सरोवर का पानी जैसे घटता जाता है वैसे ही मेरा हृदय घट रहा है । बिहराई—फट रहा है, जैसे सरोवर का तला पानी घट जाने पर फट जाता है। टेका—सहारा दो। दीठि—दृष्टि (दर्शन) रूपी वर्षा की प्रथम झड़ी से फटे हुए हृदय को मिला दो, जैसे वर्षा का प्रथम पानी पड़ते ही फटा हुआ सरोवर का तला मिलकर एक हो जाता है । पलुहै—हरी हो जाय ।

दसवँ दुवार गुपुत एक ताका ।
अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका ॥
भेदै जाइ कोइ ओहि घाटी ।
जो लह भेद चढ़ै होइ चाँटी ॥

जस मरजिया समुद धँस हाथ आव तब सीप ।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंघलदीप ॥२५॥

———

बहुरा—लौटा। उड़िगा छाला—उसके नाम की माला फेरते-फेरते उंगलियों की खाल उड़ गई।

(२१) घर-घरनि—घर की गृहिणी, मालकिन । रावट—महल। रावट इ०—मेरे लिए महल को लंका के समान जलती हुई बना गया। आपु इ०—खुद जीव पाकर दूसरे के जीव को जानो कि वह कैसा व्यथित होता होगा। करु जिउ फेरा—मेरा प्राण लौटा दे। बारी—हे बाला। सौंह—सामने। चाहनहारी—देखने वाली हूँ, देखते रहना चाहती हूँ। पाँय—पैरों पर।

(२२) उठी आगि—विरह-संताप से भरे संदेश के ताप से। बजागि—वज्राग्नि। साम—श्याम (हेतूत्प्रेक्षा)। ठेघा—ठहरा, टिका। रेहू—खारी मिट्टी। दाध—जलन। खेहू—राख। डफारा—चिल्लाया।

नोट—[आध्यात्मिक अर्थ]।

(२३) फेरा कीन्ह—घूमता हुआ आया। भाखा—बोली। बिहंगम नामा—विहंगम नाम वाले अर्थात् पक्षी (विहंगमाख्या)। डाढ़े—जल गये।

(२४) धुँध बाजा—अंधकार छाया है । कोइल-बानी—कोयल के रंग की, काली। झारा—ज्वाला। बिधि—हे बिधाता। पंखी बेसा—पक्षी का रूप धारण किये। महूँ इ०—मैं भी तेरी ही तरह जलते हुए दिन बिताता हूँ। संदेसी—संदेश लाने वाला।

(२५)—टेकि—पकड़ कर। गोहरावा—पुकारा। अलोप—अदृश्य। पंखी इ०—पक्षी के नाम पाँख भी नहीं देखी। फिरा—लौट गया। सांखा—संशय, दुःख। जेति—जितनी भी, सभी। जिउतंत—जी की बात। तंत-मंत—तंत्र-मंत्र।

नोट—दोहा २५ से बाद में ये पंक्तियाँ छूट गई हैं—

गंध्रबसेन आव सुनि बारा।
कस जिउ भयेउ उदास तुम्हारा॥

(१) राजा-गढ़-छेंका-खंड

सिधि-गुटिका राजै जब पावा ।
पुनि भइ सिद्धि गनेस मनावा ॥
जब संकर सिधि दीन्ह गुटेका ।
परी हूल, जोगिन्ह गढ़ छेंका ॥
पौरि पोरि गढ़ लाग केवारा ।
औ राजा सौं भई पुकारा ॥
जोगी आइ छेंकि गढ़ मेला ।
न जनौं कौन देस तें खेला ॥

भएउ रजायसु देखौ को भिखारि अस ढीठ ।
बेगि बरजि तेहि आवहु जन दुइ पठैं बसीठ ॥१॥

उतरि बसीठन्ह आइ जोहारे ।
"की तुम जोगी, की बनिजारे ॥
भएउ-रजायसु आगे खेलहि ।
गढ़ तर छाँड़ि अनत होइ मेलहिं ॥
इहाँ इंद्र अस राजा तपा ।
जबहिं रिसाइ सूर डरि छपा ॥
हौ जोगी तौ जुगुति सौं माँगौ ।
भुगुति लेहु, लै मारग लागौ ॥"
"आनु जो भीखि हौं आएउँ लेई ।
कस न लेउँ जौं राजा देई ॥

जान पड़ा, दिखाई पड़ा। वोलि कै—पति का नाम लेकर। ओही—उसे। तिरिया !—तिरिया के आगे सम्बोधन का चिन्ह नहीं होना चाहिए। आगर—बढ़कर, श्रेष्ठ।

(३२) चेती--चेत करके, होश में आकर। कँवल इ०—जो कँवल के साथ कुमुदिनियों की तरह मेरे साथ थीं। गरुअ—गौरवशाली (सुमेरु से भो)। संवारा--बनाया। बेकरार—दुखी।

(३३) बंदन--सिंदूर। साथी—जो अर्थ-अनर्थ का, सुख-दुख का, साथी है उस प्रियतम का साथ, यदि सको तो, निभाओ। जो इ०--हे जोव, यदि जीव जला देने से भी प्रिय मिलें तो तू जल जा और प्रिय से मिल।

(३४) पाहुन इ०—अतिथि को सब कोई पानी-पवन ही देते हैं। जोऊ—पद्मावती के जीव को (समझाने लगी)। जसि—जैसी। तहूँ—तू भी। बारी—बेटी (तू भी मेरी तरह ही समुद्र की बेटी है यह समझ ले)। लेउँ खटबाटू—खाट की पट्टी पकड़ूँगी, रूठूँगी। जेंवै—जामती है। बारी—पद्मावती। चालि—चलाई। घट—भोतर।

(३५) रतन पदारथ = पद्मावती। मुये—मरने पर। ररि-रो-रो कर, पुकार-पुकार कर। पूजो—पूरी हो गयो। दुख सौं—दुख उठा कर।

(३७) अंजोरा—प्रकाश (हँसी का)। तोर इ० -यदि तेरा है तो वह मुझसे परे और अलग नहीं। परे—दूर। बेरा—अलग (याजहाजों का समूह ?)। बूझि—समझ'। तहूँ—तू ही। बैसाखी—लाठी। टेकु—पकड़। लुवुधि—ललचा कर।

(३८) परेवा--पत्ती की तरह। छरै—छलती है। आगमन होइ—पहले आकर। छाँह इ०—राजा के जलते हृदय में छाया

पदमावति राजा कै बारी ।
हौं जोगी ओहि लागि भिखारी ॥
खप्पर लेइ बार भा माँगौं ।
भुगुति देइ, लेइ मारग लागौं ॥
जोगी बार आव सो जेहि भिच्छा कै आस ।
जो निरास दिढ़ आसन कित गौनै केहु पास ?"॥२॥

सुनि बसीठ मन उपनी रीसा ।
जौ पीसत घुन जाइहि पीसा ॥
जोगी अस कहुँ कहै न कोई ।
सो कहु बात जोग जो होई ॥
आगे देखि पांव धरु, नाथा ।
तहाँ न हेरु टूट जहँ माथा ॥
बसिठन्ह जाइ कही अस बाता ।
राजा सुनत कोइ भा राता ॥
ठावहि ठाँव कुँवर सब माखे ।
केइ अब लीन्ह जोग, केइ राखे ? ॥
मंत्रिन्ह कहा रहौ मन बूझे ।
पति न होइ जोगिन्ह सौं जूझे ॥
ओहि मारे तौ काह भिखारी ।
लाज होइ जौं माना हारी ॥
आछै देहु जो गढ़ तरे, जनि चालहु यह बात ।
तहँ जो पाहन भख करहिं अस केहिके मुख दाँत ?॥३॥

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए ।
राजै कहा बहुत दिन लाए ॥
न जनौं सरग बात दहुँ काहा ।
काहु न आइ कही फिरि चाहा ॥

पंख न काया, पौन न पाया।
केहि विधि मिलौं होइ कै छाया ? ॥
सँवरि रकत नैनहिं भरि चूआ।
रोइ हँकारेसि माझी सूआ ॥
परीं जो आँसु रकत कै टूटी।
रेंगि चलीं चस बीर-बहूटी ॥
ओही रकत लिखि दीन्ही पाती।
सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती ॥
बाँधी कंठ परा जरि काँठा।
बिरह क जरा जाइ कित नाठा ? ॥
मसि नैना, लिखनी बरुनि, रोइ रोइ लिखा अकत्थ।
आखर दहै, न कोइ छुवै, दीन्ह परेवा हत्थ ॥४॥
आखर जरहिं न काहू छूआ।
तब दुख देखि चला लेइ सूआ ॥
कंचन-तार बाँधि गिउ पाती।
लेइ गा सुआ जहाँ धनि राती ॥
जैसे कवँल सूर के आसा।
नीर कंठ लहि मरत पियासा ॥
बिसरा भोग सेज सुख-बासा।
जहाँ भौंर सब तहाँ हुलासा ॥
तौ लगि धीर सुना नहिं पीऊ।
सुना त घरी रहै नहिं जीऊ ॥
तौ लगि सुख हिय पेम न जामा।
जहाँ पेम कत सुख बिसरामा ॥
अगर चँदन सुठि दहै सरीरू।
औ भा अगिनि कया कर चीरू ॥

दी। गज-हस्ति—बड़े हाथी। सरजा—एक सरदार (सरजा शब्द का अर्थ सिंह होता है)। ताजन—चाबुक। लिखी इ०—जो अनेक कलाओं अर्थात् चतुराइयों के साथ लिखी गयी थी।

(११) जानौ—मानो। दैउ—आकाश में। सारदूल—शार्दूल। हमीरू—रणथंभोर का प्रसिद्ध चौहान-वंशीय राजा जिसके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार।

कलपि—काटकर। सकबंधी—साका करने वाला। राहु इ० —जिसने अर्जुन के समान मत्स्यवेध करके द्रौपदी को जीता था। साका—कोई पराक्रम का कार्य, या किसी पराक्रम के कार्य की स्मृति में चलाया हुआ संवत्।

(१२) आपु जनाई—अपनी बड़ाई करके। देवगिरि—यादव वंश की राजधानी। छिताई—कोई स्थान, कोई स्त्री (शुक्ल)। ता.कर—उसका, परमात्मा की ओर संकेत। जेहि दिन इ०—काल की ओर संकेत। छेकिहि—घेरेगा। हाथ इ०—हाथ कौन पकड़ेगा, कौन रोकेगा ? इसकंदर—सिकन्दर। नाईं—समान। मैंहूँ—मैंने भी। अगमन—पहले ही।

(१३) देव—हे महाराज। राता—लाल हो गया, क्रुद्ध हुआ। दुन्द घाव भा—डंके पर चोट पड़ी, नगारे बजे। अरंभ-शोर। पयान—मंजिल। मिलान—डेरा।

(१४) नरवर—मध्यभारत का एक स्थान, कछवाहों की प्राचीन राजधानी। दर—दल, सेना। जाती—जाति। समुद्र—समुद्र के समान यवन-सेना। कांधा-ऊपर लिया, धारण किया। पुरवहु साथ—साथ दो। पार—सकेगा। जौ लगि—जब तक मेंड़ बनी रहती है तब तक पेड़ सुखी हैं, मेंड़ के टूट जाने पर वाटिका (के पेड़ों) की रक्षा नहीं हो सकती।

बिरह न आपु सँभारै, मैल चीर, सिर रूख।
पिउ पिउ करत राति दिन जस पपिहा मुख सूख ॥५॥

ततखन गा हीरामन आई।
मरत पियास छाँह जनु पाई॥
भल तुम्ह, सुआ! कीन्ह है फेरा।
कहहु कुसल अब पीतम केरा॥
बाट न जानौं, अगम पहारा।
हिरदय मिला न होइ निनारा॥
मरम पानि कर जान पियासा।
जो जल महँ ता कहँ का आसा?॥
का रानी यह पूछहु बाता।
जिनि कोइ होइ पेम कर राता॥
तुम्हरे दरसन लागि बियोगी।
अहा सो महादेव मठ जोगी॥
तुम्ह बसंत लेइ तहाँ सिधाई।
देव पूजि पुनि ओहि पहँ आई॥

दिस्टि बान तस मारेहु घायल भा तेहि ठाँव।
दूसरि बात न बोलै लेइ पदमावति नाँव॥६॥

तुम्ह तौ खेलि मँदिर महँ आईं।
ओहिक मरम पै जान गोसाईं॥
कहेसि जरै को बारहि बारा।
एकहि बार होहुँ जरि छारा॥
उलटा पंथ पेम के बारा।
चढ़ै सरग, जौ परै पतारा॥
अब धँसि लीन्ह चहै तेहि आसा।
पावै साँस, कि मरै निरासा॥

(२२) नाकहि नाक—एक एक नाका ।

(२३) अरदासै--अरजी, खबरें । पछिउं—पश्चिम में हरेव देश (वासी शत्रु) जो हार गया था अब सामने दृष्टि करके चढ़ आया है । जिन्ह इ०—जिन का माथा पृथ्वी पर था उनका माथा आकाश से जा लगा है, जो अधीन थे वे सिर उठाने लगे हैं। थाने—बादशाह के थाने उठ गये, सब लोग डरकर भागे आ रहे हैं। जिन्ह इ०—जिन मार्गों में तिनके भी नहीं पड़ते थे उनमें बेर और बबूल बढ़ आये ।

---

[८]

(१) चिता एक इ०—एक हृदय में दो स्थानों की चिंता उत्पन्न हुई। गढ़ इ०—गढ़ से उलझ गये हैं, तभी छूटा जा सकता है। मेराव—मिलाप, सन्धि । पाहन—पत्थर का शत्रु पत्थर (= हीरा) ही होता है, पत्थर को पत्थर ही काट सकता है। पान देइ बीरा--बीड़े का पान देकर, मेल करके। संति--से। भेऊ—भेद। पलटि--लौटकर (रतनसेन के पास जाओ)। सेऊ-सेवा। कहु--(जाकर रतनसेन से) कहो। चूरा कीन्ह—तोड़ा हुआ। खाहु—भोगो। समदन कीन्ह—बिदाई के समय दिये। नग—रत्न।

(२) पिंजर—पिंजड़ा, शरीर। परेवा—पक्षी, जीव। बांचै-बचता है । कै सेवा—जो सेवा करता है । उघेलु—खोल। को बोलै देई—कोन बोलने देगा। हमीर—रणथम्भौर का राजा। जौ इ०—यदि वैसा करेगा तो तेरा अन्त आ गया समझ। घालु--नाश कर।

नोट—(आध्यात्मिक अर्थ]।

कहि कै सुआ जो छोड़ेसि पाती।
जानहु दीप छुवत तस ताती॥
गीउ जो बाँधा कंचन-तागा।
राता साँव कंठ जरि लागा॥
वह तोहि लागि कया सब जारी।
तपन मीन, जल देहि पवारी॥

तोहि कारन वह जोगी भसम कीन्ह तन दाहि।
तू असि निठुर निछोही बात न पूछै ताहि॥७॥

कहेसि "सुआ! मो सौं सुनु बाता।
चहौं तौ आज मिलौं जस राता॥
पै सो मरम न जाना भोरा।
जानी प्रीति जो मरि कै जोरा॥
हौं जानति हौं अबहीं काँचा।
ना जेइ प्रीति रंग थिर राँचा॥
ना जेइ भएउ मलयगिरि बासा।
ना जेइ रबि होइ चढ़ा अकासा॥
ना जेइ भएउ भौंर कर रंगू।
ना जेइ दीपक भएउ पतंगू॥
ना जेइ करा भृंग कै होई।
ना जेइ आपु मरै जिउ खोई॥
ना जेइ प्रेम औटि एक भएऊ।
ना जेहि हिये माँझ डर गएऊ॥

तेहि का कहिय रहब जिउ रहै जो पीतम लागि?।
जौं वह सुनै लेइ धँसि, का पानी, का आगि॥८॥

नीरू—हे नीर-रूपी प्रिय, आकर उस उड़ती हुई धूल को मिला दो जिससे कंचन के कण फिर एकत्र हो सकें।

(३) आगी—आग में। भँवर—(१) भौरा (२) रसिक, प्रियतम। भुजंग—रसिक, प्रिय। ठेघा—ठहरा, आश्रय लिया, रोका। कान न किया—बात भी नहीं सुनी। पाहां—पास। सूर—सूर्य के उदय होने पर भंवर कमल में से छुटकारा पाता है। पटोर—पट्टकूल, रेशमी वस्त्र। बुहारौं—झाड़ूँ। सीस इ०—सिर को पैर बनाकर, सिर के बल चलकर।

(४) नागा—नागमती। बिरहा इ०—विरह की अग्नि से जलकर कौवे काले हो गये। पवन-पानि—पवन और पानी के समान। केसरि—केशर वाला (वसंत)। नागेसरि—(१) नागेश्वर का फूल (२) नागमती। मसि इ०—कालिमा फैल गयी।

(५) दगध—जलन। उलटि इ०—गोरा-बादल का कथन। बार-द्वार। पारथ—अर्जुन; तुम युद्ध में अर्जुन के समान हो और कोई नहीं। पूरि—भर गयी। पाटा—पट गया। बेहरि = फटकर। बंदि—बंदीगृह में। बंदि लेउं—मैं बंधन लूँ। मुकरावौं—छुड़ाऊं। सूरुज = रतनसेन। पाट—सिंघासन पर। महूँ—मैं भी। गवनव—जाऊंगी।

(६) कोहांने—रूठे (कोह = क्रोध)। इहै—इसलिए। धरिहैं—पकड़ लेंगे। तुरकाने—तुर्क लोग। मति—विचार (राजा का)। निम्रान—निदान, अंत में। लीन्ह पान—बीड़ा लिया। कंहि इ०—पद्मावती का कथन। सावंत—सामंत। सरवरि—उपमा। मेरावहु—(मेरी जोड़ी को) मिलाओ। लखाघर—लाक्षागृह। भीउँ = भीम। जरत इ०—वैसे ही तुम

पुनि धनि कनक-पानि मसि माँगी।
उतर लिखत भीजी तन आँगी॥
तस कंचन कहँ चहिय सोहागा।
जौं निरमल नग होइ तौ लागा॥
हौं जो गई सिव-मंडप भोरी।
तहँवाँ कस न गांठि तैं जोरी?॥
भा विसँभार देखि कै नैना।
सखिन्ह लाज का बोलौं बैना?॥
खेलहि मिस मैं चंदन घाला।
मकु जागसि तौ देउँ जयमाला॥
तबहुँ न जागा, गा तू सोई।
जागे भेंट, न सोए होई॥
अब जौं सूर होइ चढ़ै अकासा।
जौं जिउ देइ त आवै पासा॥
तौ लगि भुगुति न लेइं सका रावन सिय जब साथ।
कौन भरोसे अब कहौं जीउ पराए हाथ॥६॥
हौं पुनि इहाँ ऐस तोहि राती।
आधी भेंट पिरीतम—पाती॥
तहुँ जौ प्रीत निबाहै आँटा।
भौंर न देख केत कर काँटा॥
होइ पतंग अधरन्ह गहु दीया।
लेसि समुद धँसि होइ मरजीया॥
रातु रंग जिमि दीपक बाती।
नैन लाउ होइ सीप सेवाती॥
चातक होइ पुकारु पियासा।
पीउ न पानि सेवाति कै आसा॥